

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182746

UNIVERSAL
LIBRARY

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

आचार्य डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी-विभागाध्यक्ष

हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी

सर्वोदय साहित्य मन्दिर.

हुसैनी अलम रोड, हैद्राबाद (द.) नं. २

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलनभवन, पटना ३

प्रथम संस्करण; वि० सं० २००९, सन १९५२ ई०

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य—२।।।)

सजिल्द—३।)

Checked 1989

मुद्रक
श्रीमणिशंकर लाल
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना ४

वक्तव्य

बिहार-राज्य की सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा संस्थापित, संरक्षित और संचालित बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित होनेवाला यह सबसे पहला ग्रंथ है—आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-लिखित 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल।' इसके साथ या कुछ आगे-पीछे छः ग्रन्थ और भी प्रेस में दिये गये थे, जिनकी छपाई का क्रम नियमित रूप से चल रहा है; पर ईश्वर की कृपा से सर्वप्रथम प्रकाशित होने का श्रेय इसी ग्रंथ को मिला, यह बड़े हर्ष और संतोष की बात है; क्योंकि हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष आचार्य द्विवेदीजी हिन्दी-जगत् के परमयशस्वी साहित्यसेवी हैं और उन्हीं के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के साथ परिषद् के प्रकाशनकार्य का श्रीगणेश हो रहा है।

परिषद् में प्रतिवर्ष कम-से-कम दो विशिष्ट विद्वानों की भाषणमाला की व्यवस्था की जाती है। प्रत्येक भाषण लिखित और एक सहस्र मुद्रा से पुरस्कृत तथा पाँच दिनों तक एक-एक घंटे के व्याख्यान के रूप में समाप्त होता है। आचार्य द्विवेदीजी का यह भाषण दूसरे वर्ष की भाषणमाला का प्रथम भाषण है, जो १३ मार्च १९५२ को पटना में परिषद् के तत्त्वावधान में हुआ था। पहले और दूसरे साल के अन्य भाषण भी यथाक्रम शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। उनके प्रकाशित हो जाने पर ही यह विदित हो सकेगा कि परिषद् के द्वारा आयोजित भाषणमाला का साहित्यिक महत्त्व क्या है और उससे हिन्दी-साहित्य कहाँ तक समृद्ध हो सकता है। उक्त भाषणों के अतिरिक्त कई स्वतंत्र मौलिक ग्रन्थ भी प्रकाशित होंगे। परिषद् के प्रकाशनाधिकारी श्रीअनूपलाल मण्डल बड़ी लगन से उनके प्रकाशन में तत्पर हैं जो उनका कर्तव्य ही है।

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल अबतक प्रायः अंधकार के आवरण से ढका-सा रहा है। इस आवरण को हटाकर अंधकार में प्रकाश फैलाने का प्रथम प्रयत्न संभवतः आचार्य द्विवेदीजी ने ही किया है। उनका यह शुभ प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है, इसका यथार्थ निर्णय विद्वत्-समाज ही कर सकेगा। हमें विश्वास है कि उनका यह सत्प्रयास उनको महान् गौरव प्रदान करेगा, और इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के आरंभिक युग को अंधकार से प्रकाश में लाने के श्रेय का कुछ अंश इस परिषद् को भी प्राप्त होगा।

परिषद् के द्वारा प्रकाशित होनेवाले ग्रंथों का आकार-प्रकार एक-सा रखने का निश्चय किया गया है। ग्रंथों के मुद्रण में शब्दों की एकरूपता को भी रक्षित रखना हिन्दी-हित की दृष्टि से परिषद् को अभीष्ट है; किन्तु परिषद् को यह अभीष्ट नहीं है कि वह दुराग्रहवश अपने विद्वान लेखकों की स्वतंत्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करे। इसी कारण इस ग्रंथ की लिपि-शैली में इसके अधिकारी लेखक की इच्छा को ही प्रधानता दी गई है। जबतक हिन्दी के सर्वमान्य विद्वान हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों की एकरूपता के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं करते और वह सिद्धान्त लोकप्रियता प्राप्त नहीं करता तबतक परिषद् भी इस विषय में बरबस कोई आग्रह नहीं करना चाहती।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी

सं० २००६

अगस्त, १९५२ ई०

शिवपूजन सहाय

परिषद्-मंत्री

विषय-सूची

प्रथम व्याख्यान	...	...	१—२३
द्वितीय ”	...	...	२४—४८
तृतीय ”	...	...	४९—६७
चतुर्थ ”	...	...	६८—८९
पंचम ”	...	...	९०—११२

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

प्रथम व्याख्यान

मित्रो,

मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिम्ने मुझे हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के 'काव्यरूपों' के उद्भव और विकास की कहानी कहने का अवसर दिया है। यह काल नाना दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज-सरल भाषा में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक मनोभाव प्रकट करने थे। श्रीहर्ष के नैषधचरित के अलंकृत श्लोकों के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण में आए हुए अपभ्रंश दोहों की तुलना करने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाएगी। फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल में हुआ था और दूसरी तरफ निरक्षर संतों के ज्ञान-प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया। आगे चलकर हम विस्तारपूर्वक इन बातों की चर्चा करने का अवसर पाएँगे। संक्षेप में इतना जान लेना यहाँ पर्याप्त है कि यह काल भारतीय विचारों के मंथन का काल है और इसीलिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यद्यपि हिन्दी-साहित्य के इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट ही रह गया है। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में इस साहित्य के वास्तविक रूप का अन्दाजा लगाने में सहायता करने योग्य बहुत-सी नई सामग्री प्रकाशित हुई है और अब आशा की जानी चाहिए कि हमारे साहित्य का रूप अधिक साफ और सुदृश्य हो सकेगा। इस विषय पर मैंने जो कुछ थोड़ा सोचा-समझा है उसे आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

आज से कोई अड़सठ वर्ष पूर्व सन् १८८३ ई० में शिवसिंह सेंगर ने प्रथम बार हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक ढाँचा तैयार करने का प्रयास किया था। इस प्रयत्न के कोई छः वर्ष बाद सुप्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डा० (बाद में सर) जार्ज ग्रियर्सन ने अँग्रेजी में एक ऐसा ही प्रयत्न किया। उनकी पुस्तक का नाम है माडर्न बरनाक्वूलर लिटरेचर आफ नार्दर्न हिन्दुस्तान। ये दोनों पुस्तकें बहुत थोड़ी, सामग्री के आधार पर लिखी गई थीं। इनमें कवियों और रचनाओं के विवरण संग्रह कर दिए गए थे पर उनको किसी एक ही जीवन्त प्रवाह के चिह्नरूप में देखने का प्रयत्न नहीं था। उन दिनों यह बात

संभव भी नहीं थी। इतस्ततो विक्षिप्त संयोगलब्ध पुस्तकों और सूचनाओं के आधार पर विचार-प्रवाह की अविरल और अविच्छिन्न विचारधारा को खोज निकालना संभव नहीं था। अपने उत्कृष्ट रूप में वह अटकल की बात होनी और निकृष्ट रूप में गलत नतीजे तक ले जानेवाली। स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इन पुस्तकों को 'कविवृत्तसंग्रह' कहकर इनका बहुत ठीक परिचय दिया था। सन ईसवी की उन्नीसवीं शताब्दी के बाद से काशी की सुप्रसिद्ध नागरी-प्रचारिणी सभा ने पुराने हिन्दी-ग्रन्थों की खोज का कार्य शुरू किया और थोड़े ही दिनों में सैकड़ों अज्ञात कवियों और ग्रन्थों का पता लगा लिया। सभा की खोज-रिपोर्टों के आधार पर मिश्रबन्धुओं ने सन् १९१३ में 'मिश्र-बन्धु-विनोद' नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा जो अपनी समस्त त्रुटियों और खामियों के बावजूद अत्यन्त उपादेय है। लेकिन है यह भी कविवृत्तसंग्रह ही।

हिन्दी-साहित्य का सचमुच ही कमबद्ध इतिहास पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी-शब्द सागर की भूमिका' के रूप में सन् १९२९ ई० में प्रस्तुत किया। बाद में यह कुछ परिवर्द्धन के साथ पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। शुक्लजी ने प्रथम बार हिन्दी-साहित्य के इतिहास को कविवृत्तसंग्रह की पिटारी से बाहर निकाला। पहली बार उसमें श्यामोच्छवाग का स्पन्दन सुनाई पड़ा। पहली बार वह जीवन्त मानव-विचार के गतिशील प्रवाह के रूप में दिखाई पड़ा। त्रुटियाँ इसमें भी हैं। 'वृत्तसंग्रह' की परम्परा उसमें समाप्त नहीं हुई है और साहित्य को मानव-समाजके सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति के रूप में न देखकर केवल शिक्षित समझी जानेवाली जनता की प्रवृत्तियों के परिवर्तन-विवर्तन के निर्देशक के रूप में देखा गया है। शुक्लजी की यह विशेष दृष्टि थी और इस इस दृष्टि-भंगिमा के कारण उनके इतिहास में भी विशिष्टता आ गई है। जिन दिनों उन्होंने इतिहास लिखने का कार्य शुरू किया था उन दिनों वे अनुभव करने लगे थे कि कविवृत्तसंग्रहों में काम नहीं चल सकता। "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य में जो-जो परिवर्तन होते आये हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं उनके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुए काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था।" इस प्रकार सन् १९२९ में पहली बार शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों के अनुसार होनेवाले परिवर्तन के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के काल-विभाजन का प्रयास किया गया। उनकी दृष्टि व्यापक थी। उन्होंने अपने इतिहास के पुस्तकरूप में प्रकाशित प्रथम संस्करण में आदिकाल के भीतर अपभ्रंश रचनाओं को भी ग्रहण किया था "क्योंकि वे सदा से भाषा काव्य के अन्तर्गत मानी जाती रहीं। कवि-परम्परा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे भाषा-कवियों के नाम गिनाती चली आई हैं जो अपभ्रंश में हैं—जैसे कुमारपालचरित और शाङ्गधर-कृत हम्मीर-रासो"। इसके पूर्व ही प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के नवीन संस्करण (भाग २) में बहुत जोर देकर बताना चाहा था कि अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' ही कहना चाहिए। उनका यह निबन्ध अब नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से पुस्तक-रूप में भी प्रकाशित हो गया है। गुलेरीजी ने तत्काल प्राप्त अपभ्रंश रचनाओं का बड़ा सुन्दर विवेचन किया था, परन्तु प्रधानरूप से हेमचन्द्र के व्याकरण में उदाहरणरूप में आए हुए

दोहों तथा प्रबंध-चिन्तामणि तथा कुमारपालप्रतिबोध में संगृहीत दोहों का ही उल्लेख किया था। इन पुस्तकों के बाहर वे बहुत कम गए। शाङ्गधर-पद्धति में प्राप्त हुए कुछ अपभ्रंश-वाक्यों का उल्लेख उन्होंने अवश्य किया। उन दिनों अपभ्रंश की बहुत थोड़ी ही रचनाएँ उपलब्ध थीं। वस्तुतः गुलेरीजी के स्वर्गवास के बाद अपभ्रंश की महत्वपूर्ण रचनाएँ प्राप्त होने लगीं। हिन्दी साहित्य का यह अत्यन्त भयंकर दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि गुलेरीजी-जैसा पारखी भाषाविद् और साहित्यरसिक अपभ्रंश की उस समस्त गामग्री को देखने का अवसर नहीं पा सका जो आज उपलब्ध है। गुलेरीजी भाषा के पारखी थे, संस्कृत, प्राकृत आदि साहित्यों के जानकार थे और सच्चे रस-मर्मज्ञ थे। अन्यन्त अल्प अवस्था में वे महाकाल के दरवार में बुला लिए गए।

गुलेरीजी के जीवित काल में यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य का बहुत अधिक प्रकाशन नहीं हुआ था तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस भाषा और साहित्य के विषय में कुछ चर्चा हुई ही नहीं थी। गुलेरीजी के प्रबंध में ऐसी कई रचनाओं के संबंध में चर्चा नहीं मिलती जिनका प्रकाशन उनके जीवन काल में हो चुका था। संभवतः उनको समय नहीं मिला और वे प्रबंध को आगे नहीं बढ़ा सके। बीच ही में सब-कुछ को छोड़कर उन्हें चल देना पड़ा। गुलजी ने गुलेरीजी के अध्ययनों का उपयोग किया; परन्तु व्यापक दृष्टि रखते हुए भी उन्हें उन रचनाओं को देखने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ जो गुलेरीजी से छूट गई थीं।

यह तो पहले ही कहा गया है कि सन् १८८३ ई० में हिन्दी-साहित्य के इतिहास की प्रथम रूपरेखा तैयार की गई थी। इसके कई वर्ष पूर्व सन् १८७७ ई० में सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री जर्मन पं० पिशेल ने जर्मनी के हाल नगर से हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण का बहुत अच्छा सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया था। आज भी यह ग्रन्थ भाषाशास्त्रियों के लिये उतना ही महत्वपूर्ण बना हुआ है जितना कभी भी था। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के अन्त में अपभ्रंश भाषा का व्याकरण दिया है और उदाहरण बताने के लिये ऐसे पूरे दोहे उद्धृत किए हैं जिनमें वे पद आए हैं। पिशेल ने अन्य प्राकृतों के साथ अपभ्रंश का भी विवेचन किया था। बाद में केवल अपभ्रंश अंश को लेकर उन्होंने एक विस्तृत विवेचनात्मक पुस्तक लिखी। भामह और दण्डा (सप्तम शताब्दी) के समय में, अपभ्रंश का साहित्य वर्तमान था। बाद के रुद्रट, राजशेखर, भोज आदि आलंकारिकों ने भी अपभ्रंश की चर्चा की है। इसलिए यह तो पिशेल ने अनुमान कर ही लिया था कि अपभ्रंश का बहुत विपुल साहित्य इस देश में वर्तमान था, परन्तु इस भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में कठिन परिश्रम के साथ पुस्तक तैयार करने के बाद भी उन्हें इस बात का दुःख था कि अपभ्रंश का विपुल साहित्य खो गया है। फिर भी उन्होंने अपभ्रंश-साहित्य की रचनाओं को खोजने में कोई बात उठा नहीं रखी। हेमचन्द्र के व्याकरण में प्राप्त दोहों के अतिरिक्त उन्होंने विक्र-मोर्वशीय, सरस्वतीकण्ठाभरण, बैतालपञ्चाविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशतिका और प्रबंध-चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में पाए जानेवाले अपभ्रंश-पद्यों को तथा प्राकृत पंगलम् में उदाहरण-रूप से उद्धृत कविताओं को ढूँढ़ निकाला। सन् १९०२ ई० में उन्होंने "माटेरियलियन्स सुर केण्टनिम डेस अपभ्रंश" नामक पुस्तक को अपने प्राकृत-व्याकरण का परिशिष्ट कहकर प्रकाशित किया।

इसके बाद उनका स्वर्गवास हो गया। पिशेल अपभ्रंश के पाणिनि थे। सुप्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविजयजी ने इस पंडित की अपूर्व कृतियों को देखकर उल्लास के साथ कहा है कि यह महाविद्वान् “पाणिनि-स्मृत आपिशलनामक वैयाकरण का पुनरवतार तो नहीं था।” मुनिजी ने पउमसिरीचरिउ नामक अपभ्रंश-काव्य की प्रस्तावना में अपभ्रंश-साहित्य के प्रकाश में आने की मनोरंजक घटना का वृत्तान्त दिया है। सचमुच ही अपभ्रंश की रचनाओं का पाया जाना हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में उल्लसित करने वाली घटना है।

बहुत दिनों तक पिशेल का यह मत दुहराया जाता रहा कि अपभ्रंश का साहित्य एकदम खो गया है। गुणे, बैनर्जी-शास्त्री आदि ने बहुत बाद तक भी इसी मत को दुहराया। गुलेरीजी को कुमारपाल-प्रतिबोध को देखने का अवसर मिल गया था, परन्तु विश्वास उनका यही था कि अपभ्रंश-भाषा का साहित्य प्रायः लुप्त हो चुका है। कुछ रचनाएँ तो उनके जीवितकाल में प्रकाशित भी हो चुकी थीं पर उनकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट नहीं हो सका था। सन् १९१३-१४ ई० में डा० हरमन याकोबी नामक जर्मन पंडित इस देश में आए। जैनशास्त्रों के अध्ययन में इन्हें यश प्राप्त हो चुका था। अहमदाबाद के जैन-भण्डार का निरीक्षण करते हुए इन्हें एक साधु के पास ‘भविसयत्त-कहा’ नामक पुस्तक देखने को मिली। देखकर वे फड़क उठे। यह अपभ्रंश का काव्य था। उन्होंने बड़ी कठिनाता से उस पुस्तक की प्रतिलिपि कराई और उसका फोटो लिया। फिर उन्हें राजकोट के एक अन्य जैन-मुनि के पास ‘नेमिनाथ-चरित’ प्राप्त हुआ। जब याकोबी अपने देश को लौटे तब योरप का प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। और उनके द्वारा प्राप्त ग्रन्थों का प्रकाशन रुक गया। सन् १९१८ ई० में म्यूनिक की रायल एकेडेमी ने याकोबी-द्वारा सम्पादित ‘भविसयत्त-कहा’ प्रकाशित की। इसके कोई तीन वर्ष बाद अपभ्रंश की दूसरी रचना ‘नेमिनाथ-चरित’ में से एक अन्तःकथा—‘सणकुमारचरिउ’—लेकर उसे सम्पादित करके प्रकाशित किया। ये दोनों ही ग्रन्थ अत्यन्त परिश्रम से प्रकाशित हुए। इधर बड़ौदा के महाराज सर सयाजी गायकवाड़ की आज्ञा से सन् १९१४ ई० में श्रीचिमन लालडाह्याभाई दलाल ने पाटण के जैनग्रंथ भाण्डार की हजारों पुस्तकों की परीक्षा के उपरान्त कई अपभ्रंश-पुस्तकों का पता लगाया जिनमें मुख्य ये हैं—**सन्देशरासक**, **वज्र स्वामिचरित्र**, **अन्तरंगसन्धि**, **चौरंगसन्धि**, **सुलसाख्यान**, **चच्चरी**, **भावनासार**, **परमात्म प्रकाश**, **आराधना**, **मयणरेहासन्धि**, **नमयासुन्दरि सन्धि**, **भविसयत्तकहा**, **पउमसिरीचरिउ** इत्यादि। (स्थूलाक्षरांकित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं)। श्रीदलाल ने भविसयत्तकहा का सम्पादन भी आरम्भ किया था, पर उनका सन् १९१८ ई० में अचानक स्वर्गवास हो गया। बाद में स्वर्गीय पाण्डुरंग गुणे ने इस कार्य को पूरा किया। यह संस्करण भी छपकर प्रकाशित हो चुका है। फिर तो बाद में और भी बहुत-सी अपभ्रंश-पुस्तकों का पता चला। बहुत-से ग्रन्थ-भाण्डारों में इन पुस्तकों की भाषा को प्राकृत समझ लिया गया था और इस प्रकार वे उपेक्षित बनी रहीं। जब १९१८ ई० में भाण्डरकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना हुई और डैकन कालेज में सुरक्षित प्रतियाँ उस संस्था में लाई गईं तो सुप्रसिद्ध विद्वान् मुनि-जिनविजयजी ने जैन-ग्रन्थों का अवलोकन और परीक्षण किया। उस समय उन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश-ग्रन्थों का पता लगा। पुष्पयन्त या पुष्पदन्त का तिसट्टीलक्खण-महापुराण,

स्वयम्भू का पउमचरिउ, हरिवंशपुराण आदि पुस्तकें प्राप्त हुई। उन्हीं दिनों हिन्दी-जगत् के सुपरिचित विद्वान् पं० नाथूराम प्रेमी ने जैन-साहित्य-संशोधक नामक त्रैमासिक पत्र में 'पुष्पदन्त और उनका महापुराण' नामक महत्वपूर्ण लेख लिखा। उन्होंने अपभ्रंश ग्रन्थों के बारे में और भी कई महत्वपूर्ण लेख लिखे जो अब 'जैन साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में संगृहीत हो गए हैं। प्रेमीजी ने जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ नामक दो और अपभ्रंश ग्रन्थ खोज निकाले। फिर प्रोफेसर हीरालालजी जैन ने कारंजा के जैन-भाण्डार से कण्डुचरिउ, सावयधम्म दोहा, पाहुड़ दोहा आदि कई ग्रन्थ को खोज निकाला और सम्पादित करके उन्हें प्रकाशित भी कराया। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने स्वयम्भू और पुष्पदन्त के हस्तलिखित पोथियों से संग्रह करके कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ अपने 'काव्यधारा' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित की हैं। इधर कई विद्वानों ने इस साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है जिनमें श्रीमुनिजिनविजय, आदिनाथ उपाध्ये, डा० हीरालाल, डाक्टर परशुराम वैद्य, पं० लालचन्द्र गान्धी, डा० जगदीशचन्द्र जैन और डा० अल्सडोर्फ प्रभृत विद्वानों के नाम विशेष-रूप से उल्लेखयोग्य हैं। इन विद्वानों के परिश्रम से अनेक अपभ्रंश-ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है और अब यह नहीं कहा जा सकता कि अपभ्रंश का साहित्य एकदम लुप्त हो गया है।

सन् १९५० ई० में श्रीकस्तूरचंद कासलीबाल एम० ए० शास्त्री के संपादकत्व में आमरे-शास्त्रभाण्डार (जयपुर) के ग्रन्थों का एक प्रशस्ति-संग्रह प्रकाशित हुआ है जिसमें लगभग ५० अपभ्रंश-ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ संगृहीत हैं। इनमें कुछ का तो विद्वानों को पहले से भी पता था, कुछ नई हैं। इनमें स्वयम्भू, पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति, वीर, नयनन्दि, श्रीधर, श्रीचंद, हरिषेण, अमरकीर्ति, यशकीर्ति, धनपाल, श्रुतकीर्ति और माणिक्यराज, रङ्गधू आदि की कीर्तियाँ हैं। अधिकांश रचनाएँ १३ वीं शताब्दी के बाद की बताई गई हैं पर उसके बाद भी १६ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में रचनाएँ होती रही हैं। इस प्रशस्तिसंग्रह के रङ्गधू, यशकीर्ति, धनपाल, श्रुतकीर्ति और माणिक्यराज चौदहवीं और उसके बाद की शताब्दियों के कवि हैं।

ये ग्रन्थ अधिकतर जैन-ग्रन्थ-भाण्डारों से ही प्राप्त हुए हैं और अधिकांश जैन कवियों के लिखे हुए हैं। स्वभावतः ही इनमें जैनधर्म की महिमा बताई गई है और उस धर्म के स्वीकृत सिद्धांतों के आधार पर ही जीवन बिताने का उपदेश दिया गया है। परन्तु इस कारण से इन पुस्तकों का महत्व कम नहीं हो जाता। परवर्ती हिन्दी-साहित्य के काव्यरूप के अध्ययन में ये पुस्तकें बहुत सहायक हैं।

किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि जैनेतर मूलों से अपभ्रंश का साहित्य एकदम मिला ही नहीं। सन् १९०२ ई० में ही चन्द्रमोहन घोष ने 'प्राकृत पैगलम्' नामक छन्दोविधान के ग्रन्थ का सम्पादन किया था। इसका प्रकाशन बिब्लियोथिका इंडिका सिरीज में हुआ। इसमें बहुत-सी अपभ्रंश-कविताएँ उदाहरणरूप में संगृहीत हैं। यद्यपि बहुत पहले ही पिशेल ने इस पुस्तक में संगृहीत कविताओं पर विचार किया था फिर भी दीर्घकाल तक पुराने हिन्दी-साहित्य के आलोचना के प्रसंग में इस ग्रन्थ की उपेक्षा ही होती रही। बहुत बाद में जाकर आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने इस पुस्तक में संगृहीत रचनाओं का उपयोग किया था।

सन् १३२३ बंगब्द अर्थात् सन् १९१६ ई० में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसादशास्त्री

ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से कुछ अपभ्रंश की पुस्तकें प्रकाशित कराई। इन पुस्तकों की भाषा को उन्होंने प्राचीन बंगला कहा। पुस्तक नाना दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण थी परन्तु जान पड़ता है कि वंगाक्षरों में छपी होने के कारण हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इसकी ओर उस समय आकृष्ट न हो सका। इसके दोहों की भाषा में स्टैण्डर्ड अपभ्रंश के रूप ही मिलते हैं पर पदों में पूर्वी प्रदेश की भाषा के चिह्न भी मिल जाते हैं। इन चिह्नों को देखकर कभी इस भाषा को बंगला का पूर्वरूप कहा गया है तो कभी मैथिली और मगही का और कभी भोजपुरी का। कुछ लोगो ने इसमें उड़िया-भाषा का पूर्वरूप भी देखा है। निःसन्देह हिन्दी-साहित्य के परवर्ती काव्य-रूपों के अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त ही उपादेय है। इस पुस्तक के प्रकाशन के करीब २० वर्ष बाद, महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इन रचनाओं की ओर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। अपनी तिब्बत-यात्रा में वे इस श्रेणी के कुछ और साहित्य का भी पता पा चुके थे। राहुलजी ने बताया कि इन पदों की भाषा को बंगला नहीं, हिन्दी कहना चाहिए। राहुलजी के इस मत का समर्थन और विरोध काफी मात्रा में हुआ। हिन्दी-साहित्य का विद्यार्थी उससे थोड़ा बहुत परिचित ही है। इसलिये उम विवाद में पड़ने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। जो बात निःसन्देह है वह यह है कि इस पुस्तक की भाषा में भारतवर्ष के पूर्वी प्रदेशों की भाषा के लक्षण मिल जाते हैं। उसकी इस भाषा को बँगला, मगही, मैथिली, भोजपुरी, उड़िया सभी का पूर्वरूप कहा जा सकता है। ध्यान देने की बात यह है कि इन पुस्तकों में जिन काव्य-रूपों का परिचय मिलता है वह बँगला में अब लुप्त हो चुके हैं परन्तु हिन्दी में अभी तक जी रहे हैं। दोहों की प्रथा बंगाल के साहित्य में कभी रही ही नहीं और सही बात तो यह है कि बँगला भाषा की एक ऐसी उच्चारणगत विशिष्टता है कि दोहा छन्द उगम में जम ही नहीं पाता। मैं यह तो नहीं कहना कि बंगाल का कोई कुशल कवि चाहे तो भी बँगला को दोहा छन्दों में ढाल ही नहीं सकता; परन्तु इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि बँगला भाषा की प्रकृति दोहा के अनुकूल नहीं है।

बौद्ध गानों में भी जिस श्रेणी की पदरचना है वह आगे चलकर कबीर आदि सन्तों की रचनाओं में अधिक मुखर हुई। यह तो नहीं कहा जा सकता कि बँगलाभाषा में उसका चिह्न ही नहीं मिलता; परन्तु वह अधिक लोकप्रिय बंगाल के बाहर ही हुई। बँगला की वैष्णवपदावली में उसका एक रूप प्राप्त अवश्य होता है। साधारण बँगला से फर्क करने के लिये इसे 'ब्रजबुलि' कहा जाता है। शायद यह इस बात का प्रमाण है कि वैष्णव कवियों ने यह समझ लिया था कि इस प्रकार की पदरचना बँगलाभाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं। जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोहा और पदों की परम्परा अविच्छिन्न रूप से हिन्दी-साहित्य में चली आई है और काव्य-रूपों और विचार-प्रवाह की दृष्टि से इन गानों और दोहों का संबंध परवर्ती हिन्दी साहित्य से ही अधिक है। भाषा की दृष्टि से वह जो कुछ भी क्यों न हो।

सन् १९१८ ई० और सन् १९२१ ई० के जरनल आफ डिपार्टमेण्ट आफ लैटिंस (कलकत्ता-विश्वविद्यालय) में डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने कुछ और बौद्ध सिद्धों के दोहे प्रकाशित कराए। बाद में पुस्तकाकार में भी इनका संकलन प्रकाशित हुआ।

इधर सन् १९४५ ई० में राहुलजी ने 'हिन्दी-काव्य-धारा' नाम से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अपभ्रंश-काव्यों का संग्रह प्रकाशित कराया है। उनके मत से यह अपभ्रंश वस्तुतः पुरानी हिन्दी ही है। इसमें उन्होंने प्रथम बार स्वयम्भू के रामायण की उस हस्तलिखित प्रति से, जो भाण्डारकर-रिसर्च-इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है, कवित्वपूर्ण अंशों का संकलन प्रकाशित कराया है और बहुत जोर देकर कहा है कि स्वयम्भू हिन्दी का सर्वोत्तम कवि है। दूसरा स्थान उन्होंने पुष्पदंत को दिया है। मेरा अनुमान है कि यह पुष्पदंत हिन्दी के पुराने इतिहासकारों के निकट परिचित थे। शिव सिंह ने टाड के राजस्थान के आधार पर लिखा था कि "संवत् सात सौ सत्तर विक्रमादित्य में राजा मान अवन्ती पुरी का बड़ा पंडित अलंकार-विद्या में अद्वितीय था। उसके पास पुष्पभाट ने प्रथम संस्कृत-ग्रन्थ पढ़ पीछे भाषा में दोहा बनाये। हमको भाषा की जड़ यही कवि मालूम होता है।" जान पड़ता है, पुष्पदंत जिस राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज के आश्रित थे उनकी राजधानी 'मान्यखेट' पर से राजा का नाम 'मान' समझे लिया गया है और मभाकवि होने के कारण उन्हें भाट कह दिया गया है। जो हो, राहुलजी की इस दृढ़कण्ठ घोषणा के कारण हिन्दी के साहित्यिकों का ध्यान अपभ्रंश की ओर खिंचा है। राहुलजी के प्रयत्नों का यह शुभ परिणाम है। राहुलजी ने इन कवियों की रचनाएँ अपने संग्रह में उद्धृत की हैं और इनकी भाषा को पुरानी हिन्दी माना है—

आठवीं शती	नवीं०	दशवीं०	ग्यारहवीं०	बारहवीं०	तेरहवीं०
सरहपा	लुद्धपा	देवमेन	एक अज्ञात कवि	हेमचंद्र	लक्ष्मण
सबरपा	विरुपा	निलोपा	अब्दुर्रहमान	हरिभद्र	जज्जल
स्वयंभू	डोंविपा	पुष्पदंत	बब्बर	अज्ञात कवि	अज्ञात
भूमुकपा	दारिकपा	शान्तिपा	कनकामरमुनि	आमभट्ट	अपदेव सूरि
	गुण्डरीपा	योगीन्दु	जिनदत्त सूरि	शालिभद्र	हरिब्रह्म
	गोरक्षपा	रामभिह		विद्याधर	दो अज्ञात कवि
	टण्टणपा	धनपाल		सोमप्रभ	राजशेखर सूरि
	महीपा			जिनपदम	
	भादेपा			विनयचन्द्र	
	धामपा			चंद	

१. राष्ट्रकूट-वंश का राजा कृष्ण (तृतीय) बहुत ही पराक्रमी राजा था। उसका राज्य मालवा और गुजरात तक फैला हुआ था। परमारों के राजा सीयक (श्रीहर्ष) ने कभी इसके विरुद्ध विद्रोह किया था; किन्तु कृष्ण जबतक जीवित था, तबतक परमारों को उसने सिर नहीं उठाने दिया। मारसिंह कृष्ण का उत्तरी सेना का प्रधान सेनापति था। हेलीकेरटी के शिलालेखों (सन् ११५५-११६८) में इस मारसिंह के अधीनस्थ एक सैनिक को 'उज्जयिनी-भुजंग' कहा गया है। इससे भी पता चलता है कि उज्जयिनी पर मान्यखेट (मान?) का शासन था। हो सकता है कि बाद में मान के कवि 'पुष्प' का यश मात्र अवशिष्ट रह गया हो और पूरी कहानी भुला दी गई हो। परन्तु यह अनुमान ही अनुमान है।

इनमें से कुछ थोड़े-से कवियों की चर्चा हिन्दी-साहित्य के एनिहाग-लेखकों ने पहले भी की थी, परन्तु अधिकांश हिन्दी-साहित्य में अपरिचित ही थे ।

बहुत पहले ग्रियर्सन ने अपनी एक पुस्तक में सूचना दी थी कि विद्यापति की दो रचनाएँ देश्य-मिश्रित अपभ्रंश-भाषाओं में हैं । एक का नाम है कीर्तिलता और दूसरी का कीर्तिपताका । इनमें से कीर्तिलता को नेपाल-दरबार-लायब्रेरी से संग्रह करके महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने बँगला अनुवाद के साथ वंगश्रवणों में सन् १९२४ ई० ई० प्रकाशित कराया था । फिर बाद में यह पुस्तक सन् १९२९ में प्रयाग-विश्वविद्यालय के अध्यापक डा० बाबूरामजी सक्सेना के द्वारा अनुवादित और सम्पादित होकर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई । इस पुस्तक की भाषा को कवि ने स्वयं अवहट्ट (संस्कृत 'अपभ्रष्ट', अर्थात् अपभ्रंश) कहा था । इसमें बीच-बीच में मैथिली भाषा के प्रयोग आ गए हैं । भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व है ही, काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से भी यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है ।

सन् १९०१ ई० बंगाल एशियाटिक सोसायटी के सेक्रेटरी को पत्र लिखकर हरप्रसाद शास्त्री ने एक और महत्वपूर्ण पुस्तक का पता दिया था, यह है ज्योतिरीश्वर-नामक मैथिल कवि-लिखित वर्णरत्नाकर जिसमें नाना श्रेणी के मनुष्यों, मानव-व्यापारों, सभाओं, उत्सवों आदि के वर्णन करने के ढंग का उल्लेख है । प्राचीन मैथिली भाषा के अध्ययन की दृष्टि से तो यह पुस्तक अत्यन्त उत्तम है ही, परन्तु उस समय की सामाजिक रीति-नीति, काव्य-रुढ़ि और काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से भी यह बहुत उपयोगी है । इस काल या इसके थोड़ा इधर-उधर के काल की लिखी हुई मुस्लिम-पूर्व हिन्दू-दरबार और भारतीय जीवन का परिचय देनेवाली पुस्तक नहीं मिलती । एक ओर यह 'मानसोल्लास' नामक पूर्ववर्ती संस्कृत में ग्रन्थ की श्रेणी में पड़ती है और दूसरी ओर परवर्ती फारसी ग्रन्थ 'आईने अकबरी' की कोटि में आती है । सन् १९४० ई० में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी और पं० बबुआ मिश्र के सम्पादकत्व में यह पुस्तक एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल से प्रकाशित हो चुकी है । सुनीति बाबू ने इसे संस्कृत के विश्वकोषात्मक ग्रन्थ मानसोल्लास का समकक्ष ही बताया है । कहना व्यर्थ है कि हिन्दी के आदिकालीन साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है ।

इधर भारतीय विद्यामन्दिर के संचालक मुनिजिनविजयजी को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्याकरणग्रन्थ 'युक्ति व्यक्तिप्रकरण' मिला है । इससे बनारस और आसपास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है और उस युग के काव्य-रूपों के संबंध में भी थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ जाता है । यह पुस्तक महाराजा गोविन्दचन्द्र के सभा-पंडित दामोदरशर्मा की लिखी है । गोविन्दचन्द्र का राज्यकाल सन् ११५४ ई० तक था । आगे इस पुस्तक के विषय में थोड़ा विस्तारपूर्वक आलोचना करने का अवसर हमें मिलेगा । यहाँ इसका उल्लेख इसलिये कर दिया गया कि तत्कालीन काव्य-रूपों के अध्ययन में यह पुस्तक भी थोड़ी सहायता पहुँचा सकती है ।

सन् १९३४ ई० में श्रीराम सिंह, श्रीसूर्यकरण पारीक और श्रीनरोत्तम स्वामी ने राजस्थानी साहित्य के आदिकाव्य 'ढोला मारूरा दूहा' का सम्पादन बहुत परिश्रमपूर्वक

किया। यह पुस्तक काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई। राजपूताने में इस काव्य के कई रूप प्रचलित थे। सबसे पुराना रूप संभवतः ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी का रहा होगा। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व तो है ही, परवर्ती हिन्दी-साहित्य के दोहावद्ध काव्यों को समझने की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ से सहायता मिलती है। इस पुस्तक को हेमचन्द्र के व्याकरण में प्राप्त दोहों और विहारी सतसई के बीच की कड़ी समझा जा सकता है। यद्यपि यह गीति-काव्य के रूप में प्राप्त है और इसमें एक पूरी कथा है तथापि यह मुक्तकों के संग्रह के साथ आसानी से तुलनीय हो सकता है। कथा के घुमाव के लिये इसमें दीर्घकाल से प्रचलित कथानक-रूढ़ियों का उसी प्रकार आश्रय लिया गया है, जिस प्रकार हिन्दी के अन्य चरित-काव्यों में लिया गया है। 'ढोलामारू के दोहों के सम्पादकों ने ठीक ही कहा है कि "हिन्दी भाषा के आदिकाल की ओर दृष्टि डालने पर पता लगता है कि हिन्दी के वर्तमान स्वरूप के निर्माण के पूर्व गाथा और दोहा साहित्य का उत्तर भारत की प्रायः सभी देशी भाषाओं में प्रचार था। उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में इतना रूपभेद नहीं हो गया था जितना आजकल है। यदि यह कहा जाय कि वे एक ही थी तो अत्युक्ति न होगी।" उदाहरणों द्वारा यह कथन प्रमाणित किया जा सकता है।"

लेकिन राजस्थान के साहित्य का संबंध सिर्फ हिन्दी से ही नहीं है, एक ओर उसका अविच्छेद्य संबंध हिन्दी-साहित्य से है तो दूसरी ओर इसका घनिष्ठ संबंध गुजराती से है। कभी-कभी एक ही रचना को एक विद्वान पुरानी राजस्थानी कहता है तो दूसरा विद्वान उसे 'जूनी गुजराती' कह देता है। इस पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती में दोनों ही प्रदेशों की भाषा के पूर्वरूप मिलते हैं और प्राकृत और अपभ्रंश का रूप तो इनमें मिला ही रहता है। अनेक जैन-कवियों ने इस प्रकार के साहित्य की रचना की है। श्रीमोतीलाल मैनारिया ने अपने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में अनेक जैन लेखकों का उल्लेख किया है।^१ इनकी रचनाएं अधिकांश में साहित्यिक अपभ्रंश

१. कुब्ज महेश्व के नाम ये हैं, धनपाल (सं० १०८१), जिनवल्लभ सूरि (सं० ११६७), पल्लव (सं० ११७०), वादिदेव सूरि (सं० ११८४), वज्रसेन सूरि (सं० १२२५), शालिभद्र सूरि (सं० १२४१), नेमिचन्द्रभंडारी (सं० १२५६), आसगु (१२५७), धर्म (सं० १२६६), शाह रयण और भक्तउ (सं० १२७८), विजयसेन सूरि (सं० १२८८), राम (सं० १२८६), सुमति गणि (सं० १२९०), जिनेश्वर सूरि (सं० १२७८-१३३१), अभय तिलक (सं० १३०७), लक्ष्मी तिलक (सं० १३११-१७), सोममूर्ति (सं० १२६०-१३३१), जिनपद्म सूरि (सं० १३०६-२२), विनयचन्द्र सूरि (सं० १३२५-५३), जगड्ड (सं० १३३१), संग्राम सिंह (सं० १३३६), पद्म (सं० १३५८), जयशेखर सूरि (१३६०-६२), प्रज्ञा तिलक सूरि (सं० १३६३), वस्तिग (सं० १३६८), गुणाकर सूरि (सं० १३७१), फेरू (सं० १३७६), धर्मकलश (सं० १३७७), सारमूर्ति (सं० १३६०), जिनप्रभ सूरि (सं० १३६०-६०), सोलण (१४वीं शताब्दी), राजशेखर सूरि (सं० १४०५), जयानन्द सूरि (सं० १४१०), तरुणप्रभ सूरि (सं० १४११), विनयप्रभ (सं० १४१२), जिनोदय सूरि (सं० १४१५), ज्ञानकलश (सं० १४१५), पृथ्वीचंद (सं० १४२६), जिनरत्नसूरि (सं० १४३०), मेरुनन्दन (सं० १४३२), देवसुन्दर सूरि (सं० १४४०), साधुहंस (सं० १४५५)

की लिखी हुई है। फिर भी हिंदी-साहित्य के आदिकाल की परम्परा को समझने में बहुत सहायक है।

अभी तक मैंने अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती और मैथिली रचनाओं की ओर ही संकेत किया है। जिन प्रदेशों में आगे चलकर अवधी और ब्रजभाषा का साहित्य लिखा गया उनमें बसनेवाले कवि इन दिनों किस प्रकार की रचना कर रहे थे इस बात का कोई प्रामाणिक मूल हमारे पास नहीं है। राजस्थान और बिहार के बीच का प्रदेश उन दिनों कवियों से खाली नहीं होगा, यह तो निश्चित है। परन्तु ऐसी प्रामाणिक पुस्तकें अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं जिनके आधार पर इन प्रदेशों की इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का ठीक-ठीक अन्दाजा लगाया जा सके। परम्पराक्रम से कुछ कवियों के नाम प्राप्त अवश्य होते हैं। और कवि-संज्ञा उनके नाम पर चलनेवाली पुस्तकें भी मिल जाती हैं। परन्तु बहुत कम स्थलों पर उनकी प्रामाणिकता विश्वास-योग्य होती है। इसीलिये ब्रजभाषा और अवधी, भोजपुरी आदि के पूर्ववर्ती साहित्य के काव्य-रूपों के अध्ययन के लिये हमें बहुत-कुछ कल्पना से काम लेना पड़ता है। इस विषय में संस्कृत के चरित-काव्य, कथा, आख्यायिका और चंपूरुप में लिखित रोमांस और निजन्धरी कथाएँ और ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा हमारी सहायता कर सकती हैं। यथास्थान हम इनकी चर्चा करेंगे।

साधारणतः सन् ईसवी की दसवी से लेकर चौदहवीं शताब्दी के काल को 'हिंदी-साहित्य का आदिकाल' कहा जाता है। शुक्लजी के मत से संवत् १०५० (सन् ९८३) से संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०) तक के काल को हिंदी-साहित्य का आदिकाल कहना चाहिए। शुक्लजी ने इस काल के अपभ्रंश और देशभाषा-काव्य की बारह पुस्तकें साहित्यिक इतिहास में विवेचनायोग्य समझी थीं। इनके नाम हैं—(१) विजयपाल रासो, (२) हम्मीर रासो, (३) कीर्तिलता और (४) कीर्तिपताका, तथा (५) खुमान रासो, (६) बीसलदेव रासो, (७) पृथ्वीराज रासो, (८) जयचन्द्र प्रकाश (९) जयमयंक जस चंद्रिका, (१०) परमाल रासो (आल्हा का मूलरूप), (११), खुसरो की पहेलियाँ और (१२) विद्यापति-पदावली। “इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अन्तिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक हैं। अतः आदिकाल का नाम 'वीरगाथा-काल' ही रखा जा सकता है।”

ऊपर अपभ्रंश की जिस सामग्री की चर्चा की गई है उसमें से कुछ पुस्तकें अवश्य ऐसी हैं जिनको साहित्यिक इतिहास में विवेच्य माना जा सकता है। संदेश-रासक ऐसी ही सुन्दर रचना है। प्राकृत पिगल-सूत्रों में आये हुए कई कवियों की रचनाएँ निश्चय ही साहित्य के इतिहास में विवेच्य हैं। मिश्रबन्धु-विनोद में कुछ जैन-ग्रंथों को इस काल में रखा गया था। शुक्लजी ने उनमें से बहुत-सी पुस्तकों को विवेचनयोग्य नहीं समझा था। कारण बताते हुए उन्होंने कहा था कि इन पुस्तकों में से (१) कुछ पीछे की रचनाएँ हैं; (२) कुछ नोटिस-मात्र हैं और (३) कुछ जैन-धर्म के उपदेश-विषयक हैं।

इधर हाल की खोजों से पता चलता है कि जिन बारह पुस्तकों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया था उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई

नोटिस-मात्र हैं और कई के संबंध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूलरूप क्या था । •

उपदेश-विषयक उन रचनाओं को जिनमें केवल सूखा धर्मोपदेश-मात्र लिखा गया है, साहित्यिक विवेचना के योग्य नहीं समझना उचित ही है । परन्तु ऊपर जिस सामग्री की चर्चा की गई है उनमें कई रचनाएँ ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है । धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है । जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों उससे वह साहित्य निश्चितरूप से भिन्न है जिसमें धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित, मथित और प्रभावित कर रही हों । इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ जो मूलतः जैन-धर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्सन्देह उत्तम काव्य हैं और विजयपाल रासो और हम्मीर रासो की भाँति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं । यही बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है । 'इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं । कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है । मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती । धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए । अस्तु ।

इधर 'जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों' की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है । • स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल-जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते । धार्मिक साहित्य होने मूत्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती । यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्यक्षेत्र में अविवेच्य हो जाएगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा । • वस्तुतः लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है । कभी-कभी ये कहानियाँ पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के साथ घुला दी जाती हैं । यह तो न जैनों की निजी विशेषता है न सूफियों की । हमारे साहित्य के इतिहास में एक गलत और बेबुनियाद बात यह चल पड़ी है कि लौकिक प्रेम-कथानकों को आश्रम करके धर्म-भावनाओं को उपदेश देने का कार्य सूफी कवियों ने आरम्भ किया था । बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिये लोक कथानकों का आश्रय लिया था । भारतीय संतों की यह परम्परा परमहंस रामकृष्णदेव तक अविच्छिन्न भाव से चली आई है । केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदिकाव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी-रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा, और जायसी को भी दूर से दण्डवत् करके विदा कर देना होगा । मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना ही रही है । जो भी पुस्तकें आज संयोग और सौभाग्य से बची रह गई हैं उनके सुरक्षित रहने का कारण प्रधानरूप से धर्मबुद्धि ही रही है । • काव्यरस की भी वही पुस्तकें सुरक्षित रह

पकी है' जिनमें किमी न किमी प्रकार धर्मभाव का सम्पर्क रहा है। धार्मिक अनुयायियों के अभाव में अनेक बौद्ध-कवियों की रचनाओं से हमें हाथ धोना पड़ा है। अश्वघोष के इक्कर के कवि भी उपेक्षावश भुला दिए गए हैं। यदि मंगोलिया के रेगिस्तानों ने कुछ पन्ने बचा न रखे होते तो अश्वघोष के नाटकों का हमें पता भी न चलता। निस्सन्देह ग्रन्थ-संग्रह-कर्त्ताओं के उत्साह से भी कुछ पुस्तकों की रक्षा हुई है। 'सन्देशरासक' और 'कीर्तिलता' इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है और ये सब मिलाकर केवल इस श्रेणी के विशाल साहित्य की संभावना की ओर इशारा भर करती हैं। इनसे हम मिर्फ यह अनुमान कर सकते हैं कि किमी समय इस श्रेणी का साहित्य प्रचुर मात्रा में वर्तमान था जो उनके उत्साही संरक्षकों और कद्रदानों के अभाव में लुप्त हो गया है। एक दूसरे प्रकार का लौकिक रस का साहित्य भी बचा जरूर है; लेकिन उसमें निरंतर परिवर्तन होता रहा है और आज जिस रूप में वह उपलब्ध है उसकी प्रामाणिकता के विषय में सब समय आँख मूँदकर विश्वास नहीं किया जा सकता।

ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवनचरित को उपजीव्य बनाकर काव्य लिखने की प्रथा इस देश में सातवीं शताब्दी के बाद तेजी से चली है। हमारे आलोच्य काल में यह प्रथा खूब बढ़ गई थी। इनमें कई ऐतिहासिक पुरुष कवियों के आश्रयदाता हुआ करते थे। चंद के आश्रयदाता पृथ्वीराज थे और विद्यापति के आश्रयदाता कीर्ति सिंह। इन आश्रय-दाताओं का चरित लिखते समय भी उसे कुछ धार्मिक रंग देने का प्रयत्न किया जाता था। रासो में कवि चन्द की स्त्री ने प्राकृत राजा के यश-वर्णन को अनुचित कहा था। उसने बताया था कि साधारण राजा का यश गाने की अपेक्षा भगवान का यश गाना कहीं अच्छा है। इसपर कवि ने विस्तार से दशावतारचरित का वर्णन किया। जिस आकार में यह दशावतारचरित है वह संभवतः परवर्ती रचना है। मेरे इस विश्वास का कारण मैं तीमरे व्याख्यान में बताऊँगा। परन्तु ऐसा लगता है कि रामोकार ने पृथ्वीराज की भगवत्स्वरूप बताकर कहानी में थोड़ा धार्मिकता का रंग देना चाहा था। कीर्तिलता के कवि ने भी पाठक को कुछ पुण्यलाभ का प्रलोभन दिया था—“पुरुष कहाणी हौ कहाँ जसु पत्थावै पुनू।” इसका कारण यही था कि इस काल को रूप और गति देनेवाली शक्ति धर्मभावना ही थी। धार्मिक समझे जानेवाले साहित्य को कुछ अधिक सावधानी से सुरक्षित रखा गया था, इसलिये वह कुछ अधिक मात्रा में मिलता भी है। प्रायः इन धर्मग्रन्थों के आवरण में सुन्दर कवित्व का विकास हुआ है। तत्कालीन काव्यरूपों और काव्य-विषयों के अध्ययन के लिये इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। ‘भविस्यत्त कहा’ धार्मिक कथा है पर इतना सुन्दर काव्य उस युग के साहित्य में कहाँ मिलेगा। श्रीराहुल सांकृत्यायन ने उच्छ्वसित भाव से घोषित किया है कि ‘स्वयंभू का रामायण’ हिन्दी का सबसे पुराना और सबसे उत्तम काव्य है। रामचरितमानस और सूरसागर धार्मिक काव्य नहीं तो क्या है? राजशेखरसूर जैन-मत के साधु थे, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नन्द दास या हितहरिवंश वैष्णव धर्म के साधु थे। राजशेखर ने नैमिनाथ का चरित वर्णन करते हुए ‘नैमिनाथ फागु’ लिखा था और नन्द दास ने अपने उपास्य की लीलाओं का वर्णन करते हुए रास-पंचाध्यायी। दोनों में ही धर्मभाव प्रधान है और दोनों में ही कवित्व है। जिस प्रकार ‘राधा-सुधानिधि’ में राधा की शोभा के

वर्णन में कवित्व है और वह कवित्व उपास्य बुद्धि में चालित है उसी प्रकार 'राजल देवी' की शोभा में कवित्व भी है और वह उपास्य बुद्धि में चालित भी है । कौन कह सकता है कि इस शोभा-वर्णन में केवल धार्मिक भावना होने के कारण कवित्व नहीं है ? —

किम किम राजल देवि तणउ सिणगारु भणैवउ ।
 चंपइगोरी अइधोई अंगि चंदनु लेवउ ।
 खुंउ भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी ।
 सीमंतइ सिंदूररेह मोतीसरि सारी ॥
 नवरंगि कुंकुमि तिलय किय रयण तिलउ तसु भाले ।
 मोती कुंडल कज्जि थिय विवालय कर जाले ॥
 नरतिय कज्जल रेह नयणि मुंहकमलि तंबोलो ।
 नागोदर कंठलउ कंठि अनुहार विरोलो ॥
 मरगद जादर कंचुयउ फुड फुल्लह माला ।
 करे कंकण मणि-चलय चूड खलकावइ बाला ॥
 रुण्णुण रुण्णुण रुण्णुण कडि घाघरियाली ।
 रिमिभिमि रिमिभिमि रिमिभिमि पयनेउर जुयली ॥
 नहि आलत्तउ वलवलउ सेअंसुय किमिसि ।
 अंखडियाली रायमइ पिउ जोअइ मनरसि ॥

इस प्रकार मेरे विचार में सभी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में त्याज्य ही नहीं मानना चाहिए । परन्तु जो पुस्तकें पीछे की रचना हों या नोटिस-मात्र हों उनपर विचार ही क्या हो सकता है । शुक्लजी ने जिन पुस्तकों को प्रामाणिक रचना समझकर इस काल का नाम वीरगाथा-काल रखा था, उनमें सबसे पहली खुमान रासो है जिसके कवि का नाम है दलपति विजय । तीन खुम्माण राजाओं की चर्चा करने के पश्चात् शुक्लजी इस नतीजे पर पहुँचे थे कि दलपति कवि द्वितीय खुम्माण (संवत् ८७० से ९०० विक्रम तक) का समसामयिक रहा होगा । यद्यपि प्रताप सिंह तक का वर्णन देखकर उन्होंने यह तो अनुमान कर ही लिया था कि इसका वर्तमान रूप "विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा" अर्थात् यह भी संदेहास्पद रचना है । शुक्लजी के मन में यह विश्वास था कि इसका मूलरूप पुराना होगा; परन्तु इधर पता चला है कि दलपति वस्तुतः तपागच्छीय जैन साधु शान्ति विजय के शिष्य थे । श्रीअगरचंद नाहटा ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में इन्हें परवर्ती कवि सिद्ध किया है । इधर श्रीमोतीलाल मैनारिया ने अपनी नव प्रकाशित पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' (पृष्ठ ८७) में लिखा है कि "हिन्दी के विद्वानों ने इनका मेवाड़ के रावल खुम्माण का समकालीन होना अनुमानित किया है जो गलत है । वास्तव में इनका रचनाकाल संवत् १७३० और १७६० के मध्य में है ।"^१

इसी प्रकार नरपति नाल्हे के 'बीसलदेव रासो' के बारे में भी सन्देह प्रकट किया गया है । मैनारियाजी ने इन्हें १६ वीं शताब्दी के कवि नरपति से अभिन्न माना है और दोनों

नरपतियों की रचनाओं की एकरूपता दिखाने के लिये उन्होंने जो उद्धरण दिए हैं वे हँसकर उड़ा देने योग्य नहीं हैं। दो-एक उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं।
 ब्रह्मा बेटी बीनवऊँ, सारद कलूँ पसाइ। हंस वाहन हरषि थिकी जिह्वा बसिजै माई ॥
 वीणा पुस्तक धारणी, तूँ तारणी त्रिभूवन। कवि जन वाणी उचरइ, जु तूँ हुई प्रसन्न ॥
 कास्मीर पुर वासिनी, विद्या तणु निधान। सेवक कर जोड़े रहई आपइ विद्या दान ॥

—पंचदंड

कसमीरौ पाटणह मँझारि, सारदा तुठी ब्रह्म कुमारि।
 नाल्ह रसायण नर भणइ, हियइ हरषि गायणकइ भाइ ॥
 खेलौ मेढर्या माँडली, बइस सभा माँहि मोहेउ छइ राइ ॥६॥
 सरसति सामणी तूँ जग जीण, हंस चड़ी लटकावै वीण।
 उरि कमलौ भमरौ भमइँ, कासमीरौ मुख मंडणी माइ ॥
 तो तूठां वर प्रविजइ, पाप छयासी जोयण जाइ ॥७॥

—वीसलदेव रासो

भूसा वाहन बीनउ जेहनि मोदक आहार।
 एक दंत दालिद्र हरइ समरयाँ नूँ दातार ॥

—पंचदंड

कर जोड़े नरपति कहइ, भूसा वाहन तिलक संदूर।
 एक दंतउ मुख झलमलइ, जाणिक रोहणीउ तप्पइ सूर ॥

—वी० रा०

नगर माँहि गुड़ि झलहलइ, सह लोक जोयानी मिलइ

—पं० दं०

घरं घर गूड़ी ऊड़ली, हुवउ वधावउ नगरी धार।

—वी० रा०

खीरोदक टसरू साइला, नित पहिरवां अंगि दीसइ भला।

—पं० दं०

दीया खरोदक पइहरणइ, माणिक मोती चौक पुरार।

—वी० रा०

शुक्लजी ने भी लिखा था कि “नाल्ह के ‘वीसलदेव रासो’ में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीरा राजा (वीसलदेव) की ऐतिहासिक चढ़ाईयों का वर्णन है न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगाररस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोपित-पतिका के वर्णन के लिये) मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी-सी पुस्तक को वीसलदेव ऐसे वीर का ‘रासो’ कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्यग्रंथ नहीं है, केवल गाने के लिए रचा गया था तो बहुत-कुछ समाधान हो जाता है।” इस प्रकार शुक्लजी को यह ग्रंथ बहुत अधिक ग्रहणीय नहीं मालूम हुआ था। पुराना होने

का गौरव पाने के कारण ही यह उनकी विवेचना का विषय बन सका था। अब इसका यह गौरव भी छिन गया है। इसकी “भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में बहुत-कुछ फेर-फार होता आया है, पर लिखित रूप में सुरक्षित रहने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत-कुछ बना हुआ है”—यह शुक्लजी का विचार है; पर अब उलटी बात मालूम हुई है। भाषा में, प्रचलित चारणरीति के अनुसार, कुछ पुरानापन देने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार हम्मीर रासो को नोटिस-मात्र समझा जा सकता है। शिवसिंह-सरोज में चंद कवि के प्रसंग में कहा गया था कि “इन्हीं की (चंद की) औलाद में शाङ्गधर कवि थे जिन्होंने हम्मीर गयरा (रासो ?) और हम्मीर-काव्य भाषा में बनाया है” (शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ३५०)। संभवतः इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने इस काव्य के अस्तित्व के संबंध में अनुमान किया था। प्राकृत-पिंगलम् उलटते-पलटते उन्हें कई पद्य छन्दों के उदाहरणों में मिले, फिर तो उन्हें “पूरा निश्चय हो गया कि ये पद्य असली हम्मीर रासो के ही हैं।” क्यों और कैसे यह निश्चय हुआ—इसका कोई कारण शुक्लजी ने नहीं बताया। तब से अब हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इन छन्दों को निश्चित रूप से असली हम्मीर रासो के छन्द माना जाने लगा है। मजेंदार बात यह है कि पं० राहुल सांकृत्यायन ने इन्हीं कविताओं को अपनी ‘काव्य-धारा’ में जज्जल कवि-लिखित माना है। कुछ पद्यों में स्पष्ट रूप से ‘जज्जल भणइ’ अर्थात् ‘जज्जल कहता है’ की भणिति है। उदाहरणार्थ—

जहा,

पिंधउ दिढ सगणाह बाह उपपर पक्खर दइ
बंथु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वञ्चण लइ।
उड्डुल गहपह भमउ खगग रिउ सीसहि डारउ
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वञ्च अप्फालउ॥
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमह जलउ।
सुरताण-सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिञ्च चलउ॥

राहुलजी का यह मत प्राकृत-पिंगलम् (बिब्लियोथिका इंडिका) में प्रकाशित टीकाओं के “जज्जलस्य उक्तिरियम्” अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है—पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ यह भी हो सकता है कि यह जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध पात्र जज्जल की उक्ति है अर्थात् ‘कवि-निबद्ध वक्तृ-प्रौढोक्ति’ है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जज्जल की नहीं, किसी और कवि की होगी; परन्तु वह और कवि शाङ्गधर ही हैं इसका कोई सबूत नहीं। इतना अवश्य है कि यह उक्ति किसी ऐसे काव्य से उद्धृत है जिसमें वीररस का प्रसंग अवश्य था। फिर यदि प्राकृत-पिंगलम् के एक कवि के ग्रन्थ को वीरगाथाकाल का ग्रन्थ समझा जाय तो उसी ग्रन्थ में से बबबर, विद्याधर और अन्य अज्ञात कवियों की रचनाओं को भी उस काल की रचना मानकर विवेच्य क्यों न समझा जाय। प्राचीन गुर्जर-काव्यों में भी अनेक कवियों की रचनाएँ ऐसी हैं जिन्हें थोड़ा-बहुत हिन्दी से सम्बद्ध समझकर इस काल के विषय

में विचार किया जा सकता है। हमारे कहने का मतलब यह है कि या तो हम्मीर रासो को 'नोटिस' मात्र समझा जाय या प्राकृत-पिंगलम् में उद्धृत सभी रचनाओं को इस अनुमानाधारित ग्रन्थ के समान ही इस काल की प्रकृति और संज्ञा के निर्णय का उपयुक्त साधन समझा जाय। इसके अतिरिक्त एक और बात भी विचारणीय है। 'हम्मीर' नाम इस देश में किसी एक ही राजा के लिये नहीं व्यवहृत हुआ है। गजनी के तुर्क शासकों को 'अमीर' कहा जाता था। इस देश में 'हम्मीर' १७६ इसी 'अमीर' का संस्कृतायित रूप है। बुखारा का प्रथम अमीर उन्सद नवीं शताब्दी में हुआ। जब से इन अमीरों ने गजनी के ब्राह्मण राजा शाहियों को हराकर गजनी पर अधिकार किया तभी से इस देश में हम्मीर शब्द प्रचलित हो गया। गोविन्दचंद्र ने अपनी प्रशस्तियों में 'हम्मीर' न्यस्तवैरं मुहुरथ समरक्रीडया यो विधत्ते' कहा है और उसके पुत्र विजयचंद्र ने भी सन् ११६८ के एक दानपत्र में गर्वपूर्वक घोषणा की है कि 'हम्मीर' अर्थात् गजनी के अमीर के त्रास से समूचा भुवन दुःख की ज्वाला से जल रहा था उसे मैंने उसी की हरम की वेगमों के नयनरूपी मेघों की धारा से शान्त किया है—'भुवन-दहन लेहा-हर्म्य-हम्मीर-नारी-नयन-जलद-धारा-धौत-भूतोपतापः।' सो, हम्मीर शब्द को किसी पद्य में आया देखकर ही यह नहीं मान लिया जा सकता कि वह चिन्नीरवाले हिंदू राजा 'हम्मीर' की ओर ही इशारा कर रहा है।

"भट्ट केदार ने जयचंद-प्रकाश नाम का एक महाकाव्य लिखा था, जिसमें महाराज जयचंद्र के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था। इसी प्रकार का 'जयमयंकजस-चंद्रिका' नामक एक बड़ा ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। केवल इनका उल्लेख सिधायच दयालदास-कृत 'राठौड़ां री ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भण्डार में सुरक्षित है।" (पृ० ५०) अर्थात् ये दोनों भी नोटिस मात्र हैं। इन दोनों कवियों के विषय में कुछ अधिक चर्चा हम आगे वाले व्याख्यान में करेंगे। यहाँ इनका कह रखना ही उचित जान पड़ता है कि इनकी चर्चा रामो में भी मिलती है और हिंदी की अन्य पुस्तकों में भी कुछ चर्चा मिल जाती है। ये गोरी के दरबार के कवि बताये गए हैं। इसी प्रकार "जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है, पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों के गाँव-गाँव में प्रचलित सुनाई पड़ते हैं।" (पृ० ५१) सो यह भी नोटिस मात्र से कुछ अधिक दाम का नहीं। चंदबरदाई का पृथ्वीराज रासो भी अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं हो रहा है। इसके विषय में विस्तार से हम फिर विचार करेंगे। अब यह स्पष्ट है कि जिन ग्रंथों के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथाकाल रखा गया है उनमें से कुछ नोटिस मात्र से बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं और कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या

१. यद्यपि जगनिक के विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है तथापि अनुमान से समझा जा सकता है कि इस कवि ने यदि 'आल्हाखंड' की रचना कभी की भी हो तो वह रचना बुंदेलखंड की सीमा के बाहर बहुत दीर्घ कालतक अपरिचित रही। यह देखकर थोड़ा आश्चर्य ही होता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस अत्यन्त लोकप्रिय गीतपद्धति को रामभय करने का प्रयास क्यों नहीं किया। लेकिन यह नकारात्मक दलील हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती।

पहले की रचनाओं के विकृत रूप हैं। इन पुस्तकों को गलती से प्राचीन मान लिया गया है। राजस्थानी साहित्य के विद्वान विवेचक श्रीमोतीलाल मैनारिया ने कुछ भुलकर लिखा है कि “इन ग्रंथों को प्राचीन बतलाते समय एक दलील यह दी जाती है, कि इनके रचयिताओं ने इनमें सर्वत्र वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है, और इससे उनका अपने चरित्र-नायकों का समकालीन होना सिद्ध होता है। परन्तु यह भी एक भ्रान्ति है। यह कोई आवश्यक बात नहीं, कि वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करनेवाले कवि समसामयिक ही हों। यह तो काव्यरचना की एक शैली मात्र है। काव्य में वर्णित घटनाओं को सत्य का रूप देने के लिए कवि प्रायः ऐसा किया करते हैं। अनेक ऐसे ग्रंथ मिलते हैं, जिनके कर्त्ता समकालीन न थे, पर जिन्होंने वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। राजस्थान में चारण-भाट आज भी जब प्राचीन काल के वीर-पुरुषों पर ग्रंथ तथा फुटकर गीत आदि लिखते हैं, तब वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करते हैं। वारहठ केसरिसिंह-कृत ‘प्रताप-चरित्र’ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है जो सं० १९९२ में लिखा गया है।”

—रा०-स्था०-सा०, पृष्ठ ८१

आज से कोई बारह वर्ष पूर्व मैंने कहा था कि राजपूताने में प्राप्त कुछ काव्य-ग्रंथों के आधार पर इस काल का कोई भी नामकरण उचित नहीं है। उस समय मेरा विश्वास था कि जिन ग्रंथों के आधार पर उक्त काल का नामकरण किया गया है वे अधिकांश प्रामाणिक हैं। आज लग रहा है कि इनमें से कई की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है और कई नोटिस मात्र हैं। रही राजपूताने के साहित्य की बात, सो उसके विषय में मैनारियाजी का यह मत उल्लेख-योग्य है—“इसके अतिरिक्त ये रासो-ग्रन्थ जिनको वीर-गाथाएँ नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीर-गाथाकाल की कल्पना गई है, राजस्थान के किसी समयविशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते। केवल चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्म-जात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के खून में है, और वे ग्रन्थ उस भावना की अभिव्यक्ति हैं। यदि इनकी रचनाओं के आधार पर कोई निर्णय किया जाय, तब तो वीर-गाथा-काल राजस्थान में आज भी ज्यों-का-त्यों बना है। क्योंकि राजा-महाराजाओं अथवा उनके पूर्वजों की कीर्ति के ग्रन्थ आदि लिखने का काम ये लोग आज भी उसी उत्साह के साथ कर रहे हैं, जिस उत्साह से पहले किया करते थे। परन्तु राजस्थान के वातावरण तथा इन जातियों से अपरिचित लोगों का यह बात समझ लेना कुछ कठिन है।”—‘राजस्थानी भाषा और साहित्य’, पृ० ८१।

अब, सही बात यह है कि चौदहवीं शताब्दी तक देशी भाषा के साहित्य पर अपभ्रंश भाषा के उस रूप का प्राधान्य बना रहा है जिनमें तद्भव शब्दों का ही एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे-धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं-दसवीं शताब्दी से ही बोचचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४ वीं शताब्दी के प्रारंभ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईषत् विकसित या परिवर्द्धित रूप में बनी रहीं, पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ जाने से भाषा भी बदली-सी जान पड़ने लगी। भक्ति केनवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आंदोलनों को शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और भागवत

पुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ा। शांकरमत की दृढ़ प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा में और साहित्य की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दों के एकाएक प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई। यद्यपि वह उतनी नवीन थी नहीं। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के काल का साहित्य अपभ्रंश-प्रधान साहित्य है।

‘युक्तिव्यक्तिप्रकरण’ का उल्लेख पहले ही हो चुका है। इस ग्रन्थ के लेखक दामोदर शर्मा संभवतः राजकुमारों के शिक्षक थे। मैंने सुना है कि यह ग्रन्थ डा० श्रीसुनीति कुमार चटर्जी द्वारा सम्पादित होकर छत्र तो चुका है; लेकिन अभी प्रकाशित नहीं हुआ। डा० मोतीलाल ने ‘गङ्गागान्धर्व-अभिनन्दन-ग्रन्थ’ में एक लेख लिखकर बताया है कि इस पुस्तक में तत्कालीन काशी की भाषा का रूप पाया जाता है। ‘वेद पढ़व, स्मृति अभ्यासिव, पुराण देखव, धर्म करव’ यह बारहवीं शताब्दी की बनारसी भाषा का नमूना है। स्पष्ट ही इस वाक्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार “छात्र गाउँ या” में छात्र शब्द किसी अपभ्रंश पुस्तक की भाषा के समान ‘छत्तु’ नहीं बन गया है और, “मेरा क्षेम को करिह” में क्षेम विशुद्ध तत्सम रूप में है। ‘विद्या अवढ़’ में विद्या और ‘प्रज्ञा’ में प्रज्ञा तत्सम रूप में ही व्यवहृत हुए हैं। इस पुस्तक से और भी बहुत-सी बातों का पता चलता है। महत्वपूर्ण और जानने योग्य बात यही है कि उस समय इस भाषा में कथा-कहानी का साहित्य रचित होने लगा था।

इसके बाद तत्सम शब्दों के निश्चित प्रयोग का प्रमाण ज्योतिरीश्वर के वर्णरत्नाकर और विद्यापति की कीर्तिलता में मिलता है। दोनों ही पुस्तकें मिथिला में लिखी गई थीं। विद्यापति पद्य में तो अपभ्रंश के समान तद्भव रूपों का व्यवहार करते हैं—यद्यपि जैन लेखकों की तरह वे संस्कृत का सम्पूर्ण बहिष्कार नहीं करते हैं—पर जब गद्य लिखने लगते हैं तो उनकी भाषा में तत्सम शब्दों की भरमार हो जाती है। संभवतः यह बात इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि पद्य की भाषा में तो थोड़ा-बहुत पुरानापन तब भी बना हुआ था; पर बोलचाल के गद्य में तत्सम शब्दों का प्राचुर्य बढ़ रहा था। विद्यापति की पदावली में तो तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत है, परन्तु उसकी भाषा बहुत बदलती रही है। अतएव उसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ज्योतिरीश्वर की पूरी पुस्तक ही गद्य में है; बल्कि यह कहिए कि शब्दों की सूचीमात्र है। उसमें संस्कृत-शब्दों के तत्सम रूपों का प्रयोग यही सूचित करता है कि बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। संयोगवश तत्सम शब्दों के प्रचलन के प्रमाण के रूप में जिन तीन पुस्तकों के प्रमाण का उल्लेख किया गया है वे सभी संस्कृताभ्यासी ब्राह्मण-पंडितों की रचनाएँ हैं और तीनों ही पूर्वी प्रदेश में लिखी गई हैं। आलोच्यकाल में काशी और मिथिला संस्कृत-विद्या के गढ़ रहे हैं। इसलिये कोई चाहे तो कह सकता है कि यह ब्राह्मणों की और पूर्वी प्रदेश की विशेषता थी। ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इस अनुमान का प्रत्याख्यान करने योग्य अधिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। श्रीअगरचन्दजी नाहटा ने जर्नल आफ दि य० पी० हिस्टारिकल सोसायटी के बारहवें जिल्द में तरुणप्रभ सूरि नामक चौदहवीं शती के जैन विद्वान् की एक गद्य-रचना ‘दशार्णभद्रकथा’ की सूचना प्रकाशित कराई है। इसकी भाषा में तत्सम शब्दों की उसी प्रकार भरमार है

जिस प्रकार कीर्तिलता के गद्य म है । फिर भी कल्पना-शक्ति को कुछ और बल देकर यह बताया जा सकता है कि उन दिनों तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था । नवीं शताब्दी की कुवलयमाला-कथा में कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनमें बोलचाल की तत्काल-प्रचलित भाषा के सुन्दर नमूने आ गए हैं । उनमें थोड़ा पढ़ाई-लिखाई के वातावरण में रहनेवाले वटुकों की भाषा इस प्रकार है—

“भो भो भट्टउत्ता ! तुम्हे ण याणह यो राजकुले वृत्तांत ?

तेहिं भणियं—भण हे व्याघ्रस्वामि ! क वार्ता राजकुले ?

तेण भणियं—कुवलयमालाए पुरिसद्वेषिणीए पातओ लंविताः ।

इमं च सोऊण अण्कोडिऊण एक्को उट्टिउ चट्टो । भणियं च

णोणं यदि पांडित्येन ततो मइं परियेतव्य कुवलयमाल ।

अण्णोण भणियं—अरे ! कुवणु तउ पाण्डित्यु ?

तेण भणियं—पडंगु पढमि, त्रिगुण मन्त्र पढमि, किं न पाण्डित्यु ?

अण्णोण भणियं—अरे ! ण मंत्रेहिं तृगुणेहिं परिणिज्जइ,

जो सहितौ पातौ भिं (विं) दइ तं परिणेति ।

अण्णोण भणियं—अहं सहितउ उजो ग्वाथी पढमि ।

तेहिं भणियं—कइसी रे व्याघ्रस्वामि ! गाथः ?

तेण भणियं—इम ग्वाथ—

साते भवतु सुप्रीता अबुधस्य कुतो बलं ?

यस्य यस्य यदा भूमि सर्वत्र मधुसूदनः ॥

तं च सोऊण अण्णोण सकोपं भणियं—

अरे अरे मूर्ख ! स्कन्धकोपि गाथ भणसि ! अग्रह गाथ ण पुच्छह ।

तेहिं भणियं—त्वं पठ भट्टो यजुस्वामि ! गाथः ।

तेण भणियं—सुट्टु पढमि—

आए कप्पे मत्तगय गोदावरि ण मुयंति ।

को तहु देसहु आव (प) तति को व पराणति वात्त ॥

अण्णोण भणियं—अबे ! सिलोगो अग्रहे ण पुच्छइ । ग्वाथी पठहो ।

तेण भणियं—सुट्टु पढमि—

तंबोलरइयराउ अहरो कामिनं दट्ट ।

अमडं चित्र कलुभई मणो दारिद्रगुरु णिवारेइ ॥

तउ सवेहि विभणियं—अहो ! भट्ट यजुस्वामि विदग्ध पंडितु विद्यावंतो ग्वाथी पढति, एतेन सा परिणेतव्या ।

अण्णोण भणियं—अरे ! केरिसो सो पातउ जो तीय लंविनु ।

तेण भणियं—राजांगणे मइं पठितु आसि, सो से विस्मृतु, सब्बुलोकु पढति त्ति ॥

इमं च सोऊण चट्ट रसायणं विनित्यं रायउत्तण—अहो ! आणाहवट्टिआणं असंबद्धपलावत्तणं चट्टाणं त्ति ॥”

—कुवलयमालाकथायाम् [जे० भा० ता० १३, १३१; पृ० १०६-१०७]

स्पष्ट ही इसमें तत्सम शब्दों का बाहुल्य है । बाहुल्य का कारण संस्कृत-पाठशाला का वातावरण है । इसी पुस्तक में एक अनाथालय के कोठियों, अपाहिजों आदि की भाषा का भी नमूना है । यह अनाथालय मथुरा में था । अनुमान किया जा सकता है कि इस बात-चीत में स्थानीय भाषा का रूप रहा होगा । संस्कृत के कठिन तत्सम शब्दों का न रहना स्वाभाविक है । फिर भी इसमें प्रयाग, खेद आदि शब्द प्रायः तत्सम रूप में ही आए हैं । उदाहरण यह है—

“सयलं पुहईमंडलं परिभमिऊण संपत्तो महुराउरीए । एत्थ एक्कम्मि अणाहुमण्डवे पविट्ठो । अवि य तत्थ ताव मिलियालए कोड्डीए । वलक्ख खइयए । दीण दुग्गय । अन्धलय । पंगुलय । मंडुलय । मड्हय । वामणय । छिण्णणासय । तोडियकण्णय । छिण्णोट्ठय । तडिय । कप्पडिय । देविय । तित्थयणिय । लेहाराय । धम्मिय । गुग्गुलिय । भो (लो) या । किच्च वट्ठणा जो माउ-पिउ-रुट्ठेल्लउ सो सो सव्वो वितत्थ मिलिएल्लउ त्ति । ताहं च तेत्थु मिलिएलय सह समाणह एक्केक्क महाआलावा पयत्ता । भो भो ! कयरहिं तित्थे दे (वे) वा गयाहं क्रयरा वाहि पावं वा पिट्ठइ त्ति । एक्केण भणिअं—अमुक्का वाणारसी कोडिएहि । तेण वाणारसी गयाणं कोढु फिट्ठइ त्ति ।

अण्णेण भणिअं—हुं हुं कहिउ वुत्तंतउ जंपिएल्लउ । कहि कोढं । कहि वाणारसी । मूलत्थाणु भडारउ भो (? को) ढइं जे देइ । उद्दालि लोअहुं ।

अण्णेण भणिअं—रे रे जइ शू (मू) लत्थाणु देइ उद्दालइज्जं कोढइं । ता पुणु काइं कज्जु अप्पाणु कोडिअल्लउ अच्छइ ?

अण्णेण भणिअं—जा ण कोडिएल्लउ अच्छइ ता ण काइं कज्जु । महाकालु मडारउ छम्मास सेवण कुणइ । जेण शू (मू) लहेज्जे फिट्ठइ ।

अण्णेण भणिअं—काइं इमेण जत्थ चिरपरूढ पाउ फिट्ठइ, तुग्गे, उद्दिसह तित्थ ।

अण्णेण भणिअं—प्रयागवउपडिअहं चिरपरूढ पाय विहत्थ वि फिट्ठति ।

” ” —अरे ! पाव पुच्छिय पाय साहहि ?

” ” —खेदु मेल्लहं । जइ पत्माइं पिइवहकयइं पि महापावइं गंगासंगमे प्हायहं भइखभडारयपडिअहं णासइ त्ति । —कुवलयमालाकथायम् [ज० भा० ता० ४३-४४]

यह ध्यान देने की बात है कि ‘अच्छइ’ ‘आछ’ आदि के जो प्रयोग बारहवीं शताब्दी की भाषा (युक्ति-व्यक्ति-प्रकरण) में मिल जाते हैं वे करीब-करीब यहाँ भी हैं ।

इस प्रकार नवीं शताब्दी में ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्द आने लगे थे । जो लोग बात-चीत में कुछ इस प्रकार का आभास देना चाहते थे कि वे पढ़े-लिखे हैं वे निस्संकोच संस्कृत-शब्दों का प्रयोग किया करते थे । परन्तु साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में संस्कृत-शब्द उसी स्वाभाविकता के साथ प्रयुक्त होने थे जैसा बाद की बोलियों में होता रहा । धीरे-धीरे संस्कृत के तत्सम शब्द अधिकाधिक मात्रा में आने लगे ।

सो इस कल की भाषा की मुख्य प्रवृत्ति थी बोलचाल में तत्सम शब्दों का प्रचार । स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने बताया है कि “विक्रम की सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिंदी में परिणत हो गई । इसमें देशी की प्रधानता है, विभक्तियाँ घिस गई हैं । खिर गई हैं । एक ही विभक्ति ‘ह’ या

‘आहँ’ कई काम देने लगी है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियों के खिर जाने से कई अव्यय या पद लुप्त-विभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे जो विभक्तियाँ नहीं हैं। क्रियापदों में मार्जन हुआ। हाँ, इसने केवल प्राकृत ही के तद्भव और तत्सम पद नहीं लिए; किन्तु धनवती अपुत्रा मौसी (संस्कृत) से भी कई तत्सम पद लिए। अपभ्रंश-साहित्य की भाषा हो चली थी। वहाँ गत भी गया और गज भी गया। काच, काक, काय, कार्य सबके लिये काय। इसमें भाषा के प्रधान लक्षण—सुनने से अर्थ-बोध—का व्याघात होता था। अपभ्रंश में दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं। जैन लोग संस्कृत-शब्दों का बहिष्कार अवश्य करते रहे पर वे आते ही गए।

चंद का रासो अपने मूलरूप में सुरक्षित नहीं रह सका है। इसमें बहुत प्रक्षेप हुआ है। फिर भी इसके वर्तमान रूप से (जो सत्रहवीं शताब्दी के आस-पास का है) अनुमान किया जा सकता है कि इसमें संस्कृत की ओर जाने की प्रवृत्ति है। तद्भव शब्दों में अनुस्वार लगाकर संस्कृत की छौंक देना तत्कालीन भाषा के नये घुमाव की सूचना देता है। परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। सूरदास, तुलसीदास, बिहारी आदि परवर्ती कवियों की भाषा में निश्चित रूप से तत्सम शब्दों का अबाध प्रवेश होने लगा था। परन्तु उनके प्रयोगों का अध्ययन करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि तत्सम शब्दों का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है। ‘विधुबैनी’ में ‘बैनी’ परम्परा-प्राप्त शब्द है और ‘चंद्रवदनि’ में वदनि नये घुमाव की सूचना देता है। ‘लौयन कोयन’ में ‘लौयन’ पुरानी स्मृति का चिह्न है और ‘सोचविमोचन लोचन’ में ‘लोचन’ नये प्रभाव का द्योतक है। ‘मैन-सर’ में ‘मैन’ पुरानी विरासत है और ‘मदनमोहन’ में मदन नया अतिथि है। स्पष्ट ही १० वीं से तेरहवीं शताब्दी तक की बोलचाल की भाषा में संस्कृत-तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। इन कुछ शताब्दियों में अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा पद्य का वाहन बनी रही और गद्य की भाषा तत्सम-बहुल होती गई। कीर्तिलता में इसकी स्पष्ट सूचना मिलती है। धीरे-धीरे तत्सम शब्दों और उनके नये तद्भव रूपों के कारण भाषा बदली-सी जान पड़ने लगी। और १४ वीं शताब्दी के बाद वह बदल ही गई। इसके पूर्व अपभ्रंश और देश्य-मिश्रित अपभ्रंश की प्रधानता बनी रही। इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिंदी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिंदी।

इस पुरानी हिंदी के कुछ पुराने नमूने शिलालेखों में मिल जाते हैं। बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिंदी के रूप में चलती थी यद्यपि उसमें नये तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था। गद्य और बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्द मूल रूप में रखे जाते थे; पर पद्य लिखते समय उन्हें तद्भव बनाने का प्रयत्न किया जाता था। ‘चरित’ तत्सम शब्द है। इसका पुराना तद्भव रूप ‘चरिउ’ बहुत काल से प्रसिद्ध था। बोलचाल की भाषा में नये सिरे से ‘चरित’ बोला जाने लगा था और पद्य लिखते समय भी कवि लोग इसका व्यवहार कर देते थे। इसी प्रकार ‘दक्षिण’ ‘समग्र’ ‘सुख’ ‘ग्राम’ आदि शब्द बोलचाल की भाषा से सरकर पद्य में आ जाते थे। बारहवीं शताब्दी में किसी विश्वामित्र-गोत्रीय गुहिलवंशी विजयपाल ने ‘काई’ नामक वीर को हराया था। उसके लड़के

का नाम भुवनपाल था, नाती का हर्षराज । इस हर्षराज ने कालंजरडाहल और गुर्जर तथा दक्षिण के देशों को जीता था । उसका लड़का विजयसिंह भुंभुकदेव का बड़ा भक्त था । उसने चित्तौड़ में लड़ाई ठानी, दिल्ली की सेनाओं पर विजय प्राप्त की और महागढ़ के निकट दक्षिण की फौजों को तितर-बितर कर दिया और गुर्जरो को मार भगाया । दमोह जिले में प्राप्त उसका हिंदी-लेख इस प्रकार है—

विसमिन्न गोत्त उत्तिम चरित धिमल पवित्तो गाण ।
 अरधड धडणो संसिजय द्ववडो भूवाण ॥
 द्ववडो पटि परिठियउं खत्तिय विजयपालु ।
 जोणो काइउ रणि विजिणिउ तह सुअ भुवण पालु ॥
 कलचुरि गुजर ससहरह दक्षिण पइ सुख अंड ।
 चुहरा अहरण विजिणण हरिस राअ भुवदंड ॥
 संघरि भंगरि रणरहसु गउ हरिसरुअ कि अघ ।
 हपइत पठियर सुहड सुमुहुन कोउ समघ ॥
 जेणे रंजिउ जग पउरिणउ ग्राम महागढ़ हेठि ।
 विजय सीह सुर अठिअह अरियण निअ हित पेठि ॥
 जो चित्तोऽहं जुभिअउ जिण दिल्लीदल जित्तु ॥
 सो सु पसंसहि रभअकइ हरिसराअ तिअ सुत्तु ॥
 खेदिअ गुजर गौदहइ की अ अधिअं भारि ।
 विजय सीह कित संहलहु पौरिस वह संसारि ॥
 भुंभुक देवह पअ पणधि पअडिअ कित्त समव ।
 विजयसीह दिद चित्तु करि आरंभिअ सुख सब्ब ॥

नागरी-प्रचारिणी पत्रिका—भाग ६, अंक ४ में प्रकाशित
 रा० ब० हीरालालजी के लेख से ।

यह शिलालेख उस युग की भाषागत प्रवृत्तियों को अविकृत रूप में उपस्थित करता है । यह स्पष्टरूप से बताता है कि पद्य की भाषा अपभ्रंश ही थी; किन्तु बोलचाल की भाषा में संस्कृत-तत्सम शब्द आने लगे थे और उनका प्रभाव पद्य की भाषा पर भी पड़ रहा था । डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने इस काल की भाषा पर विचार करते हुए कहा है (हिंदी भाषा का इतिहास—भूमिका, पृष्ठ ७७) कि “पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, अंक ४ में ‘पुरानी हिंदी’ शीर्षक लेख में जो नमूने दिए हैं वे प्रायः गंगा की घाटी के बाहर के प्रदेशों में बने ग्रन्थों के हैं । अतः इनमें हिंदी के प्राचीन रूपों का कम पाया जाना स्वाभाविक है । अधिकांश उदाहरणों में प्राचीन राजस्थानी के नमूने मिलते हैं । इसके अतिरिक्त इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि इन ग्रन्थों को इस काल के अपभ्रंश-साहित्य के अंतर्गत रखना ही अधिक उचित मालूम पड़ता है ।”

वस्तुतः १४ वीं शताब्दी के पहले की भाषा का रूप हिंदी-भाषी प्रदेशों में क्या और कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है । कुछ अधिक प्रामाणिक प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ और शिलालेख आदि से ही उस भाषा का परिचय

मिल सकता है। दुर्भाग्यवश इस काल का ऐसा साहित्य उपलब्ध नहीं है। जो एकाध शिलालेख और ग्रंथ (जैसे, व्यक्ति-व्यक्ति-प्रकरण) मिल जाते हैं वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य की और बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचुर बढ़ने ने लगा था; पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था। इसलिये इसकाल को अपभ्रंश-काल कहना उचित ही है।

विषय-वस्तु को दृष्टि में रखकर इस काल के लिये राहुलजी ने एक और नाम सुझाया है जो बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। यह नाम है 'सिद्ध-सामन्त-काल'। इस काल का जो भी साहित्य मिलता है उसमें सिद्धों का लिखा धार्मिक साहित्य ही प्रधान है। यद्यपि यह साहित्य विशुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आ सकता पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ इस काव्य में उसी प्रकार प्रेरणा का विषय रहीं जिस प्रकार परवर्ती काल में भक्ति। वस्तुतः काल-प्रवृत्ति का निर्णय प्राप्य ग्रंथों की संख्या द्वारा नहीं निर्णीत हो सकती; बल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकती है। प्रभाव-उत्पादक और प्रेरणा-संचारक तत्त्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है। फिर 'सामन्तकाल' में 'सामन्त' शब्द से उस युग की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण-जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणास्रोत का भी पता चलता है। 'सामन्त' जिस काव्य का प्रधान आश्रयदाता है उसमें उसके भूठे-सच्चे विजयों और कल्पित-अकल्पित प्रेम-प्रसंगों का होना उचित ही है। एक के द्वारा वह वीररस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा शृंगार-रस का आलंबन। सामन्त को दोनों ही चाहिए। इस प्रकार इस शब्द में इस काल की मुख्य प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का गुण है। 'प्राकृतपंगलम्' में उदाहरणरूप में उद्धृत पद्यों में इस प्रकार की राजस्तुतिमूलक रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हैं और तत्कालीन संस्कृत-काव्य में इस श्रेणी की रचनाएँ बहुत अधिक हुई हैं। सो, यह राजस्तुतिपरक रचनाएँ 'वीरगाथा' उतनी नहीं हैं जितनी राजस्तुति हैं। उनकी लड़ाइयों और विवाहों की कथाओं में कल्पना अधिक है, तथ्य कम।

यद्यपि हमने अपभ्रंश की अनेक रचनाओं की चर्चा की है और हमारा मत है कि ये रचनाएँ आदिकालीन हिन्दी-साहित्य के काव्यरूपों के अनुमान में सहायक हैं; परन्तु यह सत्य है कि जिन प्रदेशों में आगे चलकर व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का साहित्य लिखा जाने लगा, उन प्रदेशों की बहुत ही थोड़ी रचनाएँ हमें मिलती हैं— बहुत ही थोड़ी। फिर भी मात्रा और विस्तार में अत्यन्त अल्प इन रचनाओं का भी बहुत महत्त्व है, इन थोड़ी रचनाओं ने भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है और अनेक विद्वानों ने इसके मूलरूप के समझने का प्रयास भी किया है। यह साहित्य अपभ्रंश-कवि द्वारा निबद्ध उस अकिंचना सुन्दरी के समान है जिसके सिर पर एक फटी-पुरानी कमली थी, गले में दस-तीस गुरियों की माला थी, फिर भी उसका सौन्दर्य ऐसा मनोहर था कि गोष्ठ के रसिकों को कितनी ही बार उठा-बैठी करने को बाध्य होना पड़ा—

सिरि जरखंडी लोअड़ी गलि मणिअड़ा न बीस ।

तोवि गोठड़ा कराविआ सुद्धए उठुबईस ॥

द्वितीय व्याख्यान

अपने प्रथम व्याख्यान में मैंने अपभ्रंश के उपलब्ध साहित्य की चर्चा की है । स्पष्ट ही हमारे आलोच्य काल के आरंभ में इस भाषा का बहुत ही विशाल साहित्य वर्तमान था । साधारणतः दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के काल को हिंदी-साहित्य का आदिकाल माना जाता है । स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् १०५० से १३७५ तक के काल को इस काल की सीमा मानी थी । जबतक इस विशाल उपलब्ध साहित्य को सामने रखकर इस काल के काव्य की परीक्षा नहीं की जाती तबतक हम इस साहित्य का ठीक-ठीक मर्म उपलब्ध नहीं कर सकते । केवल संयोगवश इधर-उधर से उपलब्ध प्रमाणों के बल पर किसी बात को अमुक का प्रभाव और किसी को अमुक ऐतिहासिक घटना की प्रतिक्रिया कहकर व्याख्या कर देना न तो बहुत उचित है और न बहुत हितकर ।

हमने बताया है कि इस बात का निर्णय करना कठिन है कि अवधी और वृजभाषा क्षेत्र में उत्पन्न और वहीं की भाषा बोलनेवाले लोगों ने किस प्रकार के साहित्य की रचना की थी जिसका परवर्ती विकास अवधी और वृजभाषा के साहित्यिक ग्रन्थ है, क्योंकि १० वीं से १४ वीं शताब्दी के भीतर इन क्षेत्रों में कोई रचना हुई भी हो तो उसका प्रामाणिक रूप हमें प्राप्त नहीं । हमें पार्श्ववर्ती प्रदेशों से प्राप्त साहित्यिक सामग्री के आधार पर तथा पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओं के काव्य-रूपों को देखकर अनुमान द्वारा उस साहित्य-रूप का अन्दाजा लगाना पड़ता है । हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि यह अन्दाजा यथा-संभव ठीक हो । यह नहीं समझना चाहिए कि केवल हिन्दी का साहित्य ही इस काल में इस प्रकार के दुर्भाग्य का शिकार बना । केवल गुजराती और राजस्थानी इस विषय में कुछ अधिक सौभाग्यशालिनी है; नहीं तो लगभग सभी प्रान्तीय साहित्यों की यही कहानी है । जबतक प्रत्येक प्रदेश से प्राप्त सामग्री का व्यापक अध्ययन नहीं किया जाता तबतक सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिक रूप अस्पष्ट ही बने रहेंगे । इसीलिये इस काल के साहित्य-रूप के अध्ययन के लिये प्रत्येक श्रेणी की पुस्तक का कुछ-न-कुछ उपयोग है । पुस्तक चाहे धर्मोपदेश की हो, वैद्यक की हो, माहात्म्य की हो, वह कुछ-न-कुछ साहित्य-रूप को स्पष्ट करने में अवश्य सहायता पहुँचाएगी । इस काल में साहित्यिक क्षेत्र को यथासंभव व्यापक बनाकर देखना चाहिए । यहाँ तक कि इस काल में उत्पन्न महात्माओं और कवियों के नाम पर चलनेवाली और परवर्ती काल में निरन्तर प्रक्षेप

से स्फीत होती रहनेवाली पुस्तकों का भी यदि धैर्यपूर्वक परीक्षण किया जाय तो कुछ-न-कुछ उपयोगी बात अवश्य हाथ लगेगी । न तो हमें परम्परा से प्रचलित बातों को सहज ही अस्वीकार कर देना चाहिए और न उनकी परीक्षा किए बिना उन्हें ग्रहण ही कर लेना चाहिए । इस अन्धकार-युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाय उसे सावधानी से जिला रखना कर्तव्य है; क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की संभावना लेकर आई होती है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन का ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के संपूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है । इस काल की कोई भी रचना अवज्ञा और उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकती । साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी-न-किसी महत्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की संभावना होती ही है ।

परन्तु प्रश्न यह है कि इस काल में आज के हिंदीभाषी कहे जानेवाले क्षेत्र की देशी भाषा में लिखित कोई पुस्तक अपने मूलरूप में क्यों नहीं प्राप्त होती । इसका कोई-न-कोई ऐतिहासिक कारण होना चाहिए ।

इस काल की पुस्तकों तीन प्रकार से रक्षित हुई हैं—(१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर, (२) सुसंगठित धर्मसम्प्रदाय का आश्रय पाकर और मठों, विहारों आदि की पुस्तकालयों में शरण पाकर और (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर । राज्याश्रय सबसे प्रबल और प्रमुख साधन था । धर्मसंप्रदाय का संरक्षण उसके बाद ही आता है । तीसरे प्रकार से जो पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं वे बदलती रही हैं । जनता को उनके 'शुद्धरूप' से कोई मतलब नहीं था, आवश्यकतानुसार उसमें काट-छाँट भी होती रही है, परिवर्तन-परिवर्धन भी होता रहा है और इस प्रकार लोकचित्त के साँचे में ढलते हुए उन्हें जीवित रहना पड़ा है । आल्हा काव्य इसी प्रकार लोकचित्त की चंचल सवारी पर चलता आया है । यह बता सकना कठिन है कि उसका मूलरूप कैसा था । परन्तु वह जनता को प्रिय था, उसके सुख-दुख का साथी था और अपने इस महान् गुण के कारण वह जनता की प्रीति पा सका और जीवित रह गया । उसके समवयस्क काव्य वह प्रीति नहीं पा सके और अपना शुद्ध रूप लिए हुए अस्त हो गए ।

देशी भाषा की कुछ दूसरी पुस्तकें जैन-सम्प्रदाय का आश्रय पाकर साम्प्रदायिक भाण्डारों में सुरक्षित रह गई हैं । उनका शुद्धरूप भी सुरक्षित रह गया है । कुछ पुस्तकें बौद्धधर्म का आश्रय पाकर और बौद्ध नरपतियों की कृपा से बच गई थीं जो आगे चलकर हिंदुस्तान के बाहर से पाई जा सकी हैं । परन्तु जो पुस्तकें हिंदू-धर्म और हिंदू-नरेशों के संरक्षण से बची हैं वे अधिकांश संस्कृत में हैं । इस श्रेणी की रचनाएँ मिलती अवश्य हैं पर हमारे आलोच्य काल के देशी भाषा के साहित्य के सम्बन्ध में उनसे कोई विशेष सूचना नहीं मिलती । इस उपेक्षा का कारण क्या है ? यह कहानी सुनने योग्य है ।

श्रीहर्षदेव के शक्तिशाली साम्राज्य के टूट जाने के बाद भी कान्यकुब्ज का गौरव बना रहा । उनके सेनापति भण्डि और उनके वंशजों ने कान्यकुब्ज पर कुछ दिनों तक शासन किया । नवीं शताब्दी के आरंभ में उनकी शक्ति क्षीण हो गई; परन्तु राजलक्ष्मी फिर भी कान्यकुब्ज को छोड़ने को तैयार नहीं थी । पूर्व के पाल, दक्षिण के राष्ट्रकूट और

पश्चिम के प्रतीहार इस राजलक्ष्मी को अपनी गृहलक्ष्मी बनाने का प्रयत्न करते रहे । पर नवीं शताब्दी के आरंभ में प्रतीहारों को ही कान्यकुब्ज को अधिकार करने का गौरव प्राप्त हुआ । इसके बाद लगभग दो सौ वर्षों तक कान्यकुब्ज के प्रतीहार बड़े शक्तिशाली शासक रहे । भारतवर्ष की केन्द्रीय शक्ति उन्हीं के हाथों रही ।

सन् १०१८ ई० में राज्यपाल महमूद से पराजित हुआ और उसने महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली । ऐसा विश्वास किया जाता है कि राजपूत राजाओं को उसका यह आचरण अच्छा नहीं लगा और कई राजाओं ने मिलकर उसे मार डाला तथा उसके पुत्र को गद्दी पर बैठा दिया । परन्तु प्रतीहारों का प्रताप-सूर्य अस्त हो गया । इसी समय कलिंजर के प्रतापी चन्देल, त्रिपुरी के कलचुरि और सांभर के चौहान स्वतंत्र हो गए । ये परस्पर भी जूझते रहे और उत्तर-पश्चिम की ओर से होनेवाले आक्रमणों से भी टक्कर लेते रहे । त्रिपुरी (तेवार) के कलचुरियों में कर्ण नामक प्रबल प्रतापी राजा हुआ जो संभवतः १०३८ से १०८० ई० तक राज्य करता रहा । इसने दक्षिण में चोल-पांड्यों तक को जीत लिया और उत्तर में काशी, चम्पारण (चंपारन) और अवध तक को अपने राज्य में मिला लिया । अनुमान किया जाता है कि सरयू-पार के प्रसिद्ध तिवारी ब्राह्मण इस राजा के साथ ही इधर आए थे । कर्ण का राज्य बहुत दिनों तक स्थायी नहीं रह सका । उसने काशी को अपनी राजधानी बनाने का संकल्प किया था; पर उसका संकल्प मन ही में रह गया । क्योंकि सन् १०८० ई० में मध्यदेश में एक नई शक्ति का उदय हुआ । काशी और कान्यकुब्ज में गाहड़वार-वंशीय राजा चंद्र का प्रताप प्रतिष्ठित हुआ । इस काल में केन्द्रीय शक्ति के शिथिल होने के कारण उत्तर भारत में घोर अराजकता फैल गई थी । चंद्रदेव ने समस्त उपद्रवों को शान्त करके राज्य में सुव्यवस्था कायम की । गाहड़वार-वंश के लेखों में बड़े गर्व के साथ चन्द्रदेव के इस महान् कार्य को स्मरण किया गया है—‘येनोदारतरप्रतापशमिताशेष-प्रजोपद्रवम् !’ प्रजा ने भी इस वंश के राजाओं को सिर-माथे लिया । इस प्रकार लगभग दो सौ वर्षों तक कन्नौज, काशी, अवध तथा पश्चिमी और उत्तरी विहार—लगभग समूचा मध्यदेश या हिंदी-भाषी प्रदेश—गाहड़वार राजाओं के हाथ रहा । इस वंश के सबसे प्रतापशाली राजा गोविंदचंद्र थे जिन्हें एक तरफ बंगाल के प्रबल शासक पालों से लोहा लेना पड़ता था और दूसरी तरफ पश्चिम की ओर से निरन्तर हमला करनेवाले मुसलमानों से टक्कर लेना पड़ता था ।

जिस काल के साहित्य की चर्चा हम कर रहे हैं उस काल का मध्यदेश बहुत अधिक विक्षुब्ध था । यदि उस समय का कोई साहित्य नहीं मिलता तो बहुत आश्चर्य की बात नहीं है । हमने पहले ही विचार किया है कि साहित्य के रक्षित रहने के तीन साधनों में से सबसे प्रबल और प्रमुख साधन है राजाश्रय । गाहड़वार राजाओं के विषय में कई प्रकार के विश्वास विद्वानों में प्रचलित हैं । कुछ लोग उन्हें दक्षिण से आया हुआ बताते हैं और कुछ लोग पश्चिम से । इतना प्रायः निश्चित है कि ये लोग बाहर से आये थे और बाहर से आनेवाले अन्य लोगों की भाँति वे भी स्थानीय जनता से अपने को भिन्न समझते रहे और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास भी करते रहे । बहुत दिनों तक इस दरबार में देशी भाषा के साहित्य को कोई प्रश्रय नहीं मिला । वे लोग वैदिक संस्कृति के उपासक थे और

बाहर से बुला-बुलाकर अनेक ब्राह्मण-वंशों को दान देकर काशी में बसा रहे थे । संस्कृत को इन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया । जिस प्रकार गोड़ (बंगाल) देश के पाल, गुजरात के सोलंकी और मालवा के परमार देशभाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे वैसे इस दरबार में नहीं हुआ । इस उपेक्षा का एक कारण तो यही जान पड़ता है कि ये लोग बाहर से आए हुए थे और देशीय जनता के साथ दीर्घकाल तक एक नहीं हो पाए थे । दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मध्यदेश में जिस संरक्षणशील धार्मिक विचारधारा की प्रतिष्ठा थी उसमें संस्कृत-भाषा और वर्जनशील ब्राह्मण-व्यवस्था से अधिकाधिक चिपटे रहना ही स्थानीय जनता की दृष्टि में ऊँचा उठने का साधन रहा हो ।

बहुत दिनों तक काशी और कान्यकुब्ज के इन गाहड़वाल या गाहड़वार राजाओं को राठौड़ समझा जाता रहा; क्योंकि जोधपुर के राठौड़ अपने को जयचंद्र (अन्तिम गाहड़वाल राजा) के वंशज बताते हैं । राठौड़ शब्द का संस्कृत रूप 'राष्ट्रकूट' है और इसी नाम का एक क्षत्रिय-वंश दक्षिण में बहुत दिनों तक शासन कर चुका है । इसीलिये कुछ लोगों की धारणा थी कि दक्षिण के राष्ट्रकूट उत्तर के गाहड़वाल और जोधपुर के राठौड़ एक ही वंश के हैं । पर यह बात शायद ठीक नहीं है । दक्षिण के चन्द्रवंशी राष्ट्रकूटों के साथ जोधपुर के सूर्यवंशी राठौड़ों का संबंध नहीं जोड़ा जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता कि काशी-कन्नौज के गाहड़वाल दक्षिण से ही आए थे । दो बातें इनके दक्षिण से आने के प्रमाणरूप में उद्धृत की जाती हैं जिनमें एक तो विशेष वजनदार नहीं है; पर दूसरी थोड़ी वजन रखती है । यह कहा जाता है कि जिन ब्राह्मणों को गोविंदचंद्र ने दान दिया था वे उन गोत्रों और शाखाओं के हैं जो आजकल उत्तर में नहीं मिलते, बल्कि दक्षिण में मिलते हैं, इसलिये ये ब्राह्मण दक्षिण से बुलाए गए थे और यह बात सिद्ध करती है कि गाहड़वाल दक्षिण से आए थे । लेकिन यह बात जँचती नहीं । उन दिनों गोविंदचंद्र के इलाके से ब्राह्मण दूर-दूर के प्रदेशों में बुलाए गए थे, गोविंदचंद्र को दक्षिण से ब्राह्मण बुलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी और हुई भी हो तो यह सूचित नहीं करता कि वे दक्षिण से आए थे । सेनों ने कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को बुलाया था पर वे स्वयं कर्णाट देश से आए थे । ब्राह्मणों को विद्या और कर्मकाण्ड की कुशलता के कारण बुलाया गया होगा, यही ज्यादा संभव है । उड़ीसा के केसरी राजाओं ने भी अपने देश में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को बुलवाया था । इसी प्रकार गुजरात के राजा मूलराज और दक्षिण के चोल राजाओं के बारे में भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने कान्यकुब्ज से ब्राह्मणों को बुलाकर अपने राज्य में बसाया था । फिर, यह काल उतर के शास्त्र-परायण ब्राह्मणों के भागने का समय है । हो सकता है कि आज जो ब्राह्मण दक्षिण में मिल रहे हैं वे इसी समय इधर से उधर चले गए हों ।

परन्तु दूसरी बात कुछ ज्यादा वजनदार दिखाई देती है । चौदहवीं शताब्दी के जैन कवि नयचन्द्र सूरि ने जयचंद्र से लगभग दो सौ वर्ष बाद एक नाटिका लिखी थी— रम्भामंजरी । यद्यपि यह पूरी नाटिका महाराष्ट्री प्राकृत में है फिर भी प्रथम अंक में वैयालिकों ने जयचंद्र की स्तुति में इस प्रकार गाया है—

जरि पेखिला मस्तकावरि केश कलायु ।
 तरि परिखता मयूराचे पिच्छ प्रतापु ।
 जरी नयन विदायु केला वेणी दण्डु ।
 तरी साक्षाज्जाला भ्रमर श्रेणी दण्डु ।
 जरी दृगोचरी आला विशाल भालु ।
 तरी अर्द्धचन्द्र मण्डल भइल उर्णायु जालु ।
 भ्रूजुगलु जाणू द्वैर्धाकृत कंदर्प चापु ।
 नयन निजित सुजला खंजन निःप्रतापु ।
 मुखमण्डलु जाणू शशांक देवताचे मण्डलु ॥
 सर्वांग सुन्दर मूर्तिमन्त कामु ।
 कल्पद्रुम जैसे सुन्दर सर्वलोक आशा विश्रामु ॥

बताया गया है कि ये पद्य मराठी भाषा में हैं और इनका रंभांमंजरी नाटिका में होना इस बात का सबूत है कि जयचंद्र के दरबार के वैतालिक मराठी भाषा में गान करते थे और इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि जयचंद्र के पूर्वपुरुष दक्षिण से—किसी मराठी-भाषी क्षेत्र से—आए थे । लेकिन यह युक्ति भी केवल ऊपर-उपर से ही वजनदार मालूम होती है । प्रथम तो यह नाटिका जयचंद्र से दो सौ वर्ष बाद लिखी गई थी और इसमें कवि की कल्पना का अधिक हाथ है, ऐतिहासिक तथ्य का कम । हो सकता है कि जयचंद्र स्वयं मराठी-भाषी हों और देशी भाषा में कुछ लिखने की इच्छा होते ही उन्हें अपनी मातृभाषा सूझी हो । दूसरे, यह भाषा शुद्ध मराठी नहीं है, बल्कि तत्काल प्रचलित काशी की भोजपुरी का मराठी कवि द्वारा सुना हुआ रूप है । 'पेखिला', 'महल' 'जाणू' 'जैसे' आदि प्रयोग भोजपुरी भाषा के हैं । मैंने मूल हस्तलिखित प्रति नहीं देखी, इसलिये इस पाठ के बारे में कुछ निश्चय के साथ नहीं कह सकता; परन्तु मुझे लगता है कि लेखकों और पाठकों की असावधानी से यह कुछ विकृत रूप में लिखा गया है । 'मयूरा चे' और 'देवता चे' जैसे पद ही इसमें मराठी की गवाही देते हैं । वस्तुतः यह पद किसी मराठी भाषी कवि का भोजपुरी में लिखने का प्रयास-मात्र है । इससे अधिक कुछ भी इससे सूचित नहीं होता ।

दामोदर भट्ट के उक्तिव्यक्तिप्रकरण की चर्चा प्रथम व्याख्यान में की जा चुकी है । ये प्रसिद्ध गाहड़वार राजा गोविन्दचन्द्र के सभापण्डित थे । ऐसा अनुमान किया गया है कि पुस्तक राजकुमारों को काशी-कान्यकुब्ज की भाषा सिखाने के उद्देश्य से लिखी गई थी । यदि यह अनुमान सत्य हो तो मानना पड़ेगा कि इन राजकुमारों को घर में किसी और भाषा के बोलने की आदत थी । अर्थात् गाहड़वार बाहर से आए थे । परन्तु यहाँ से इस वंश में देशी भाषा की ओर झुकने की प्रवृत्ति आई थी, यह भी पर्याप्त स्पष्ट है । काशी-कान्यकुब्ज-दरबार में एक बहुत ही प्रवीण और विद्यावन्त मंत्री थे जिनका नाम विद्याधर था । उन्हें प्रबन्धचिन्तामणि में जयचंद्र का मंत्री तथा 'सर्वाधिकारभारधुरंधर' और 'चतुर्दश विद्याधर' कहा गया है । इस कवि की कुछ कविताएँ प्राकृतपंगल में मिल जाती हैं जो बताती हैं कि जयचंद्र के दरबार में विद्वान् मंत्रिगण भी देशभाषा में रचना करते थे । यह रचना राजस्तुतिपरक है, इसलिये यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जयचंद्र इन रचनाओं का मान करते थे । एक कविता इस प्रकार है—

भञ्ज भञ्जिञ्च बंगा भङ्गु कलिङ्गा
 तेलङ्गा रण मुक्कि चले
 मरहट्टा डिट्टा लल्लियञ्च कट्टा
 सोरट्टा भञ्ज पाञ्च पले
 चंपारण कंपा पञ्चय भंप्पा
 ओत्था ओत्थी जीव हरे
 काशीसर राणा किञ्जउ पञ्चाणा
 विज्जाहर भण मंतिवरे ॥

—प्राकृतपैंगल, २४४

यह विद्याधर जयचंद्र के बहुत अधिक विश्वासपात्र थे और केवल कवि ही नहीं, कविता के बड़े सुन्दर मर्मज्ञ भी थे। पुरातन-प्रबंध-संग्रह में इनकी उदारता और चतुरता की अनेक कहानियाँ मिलती हैं। कहते हैं, एक बार राजा जयचंद्र को जब मालूम हुआ कि परमर्दी 'कोपकालाग्निह्रद' 'अवध्यकोपप्रसाद' और 'रायद्रहबेल' (?) आदि विरुद्ध धारण कर रहा है तो उसने कटक साजकर उसकी राजधानी (कल्याणकटक) को घेर लिया और साल भर तक घेरा डाले पड़ा रहा है। परमर्दी ने अपने मंत्री उमापतिधर को बुलाकर कहा कि कुछ ऐसा करो जिससे जयचंद्र अपनी सेना हटा ले। उमापतिधर ने 'जो आज्ञा' कहकर प्रस्थान किया। वह सायंकाल सीधे मंत्री विद्याधर के पास पहुँचा और एक सुभाषित लिखकर मंत्री के पास भिजवा दिया—

उपकारसमर्थस्य तिष्ठन् कार्यातुरः पुरः।

मूर्त्या यामातिमाचष्टे न तां कृपयया गिरा।

[कार्यार्थी उपकार करने में समर्थ व्यक्ति के सामने पहुँचकर जितना अपनी सूरत से कह जाता है उतना वह कृपण वाणी से नहीं कह सकता।]

यह श्लोक विद्याधर के मन में चुभ गया। उस समय राजा जयचंद्र सो रहा था। पलंग समेत उसे उसी समय उठवाकर मंत्री ने किले से पाँच कोस दूर पहुँचवा दिया। सबेरे उठकर राजा देखता है तो वह किले से बाहर पड़ा हुआ है। सेना भी नहीं है। केवल विद्याधर मंत्री सामने खड़ा है। विद्याधर से पूछा और उसने सब ठीक-ठीक कह दिया। राजा बहुत क्रुद्ध हुआ। विद्याधर ने कहा, महाराज, शोध क्यों कर रहे हैं, मैं ब्राह्मण हूँ, मेरी कण-वृत्ति तो बनी हुई है। चलता हूँ। राजा घबराया। बोला, मैं तुमपर इस लिये नाराज नहीं हूँ कि तुमने इतना सब क्यों किया; बल्कि इसलिये नाराज हूँ कि तुमने मेरी लीला को बिगाड़ दिया। इस सुभाषित पर तुमने मेरा सारा राज्य क्यों नहीं दे दिया ! परमर्दी को जब यह बात मालूम हुई तो उसने उन विरुद्धों को त्याग दिया। राजा ने उसका सब कुछ लौटा दिया और घर लौट आया। राजशेखरसूरि-कृत प्रबंधकोश में थोड़े परिवर्तन के साथ यही कहानी लक्ष्मणावतीपुरी के राजा लक्ष्मणसेन और उनके मंत्री कुमारदेव के पराभव के रूप में कही गई है। उक्त पुस्तक के अनुसार जयन्त चंद्र (जयचंद्र) ने कालिंजर गढ़ का नहीं, बल्कि लक्ष्मणावतीपुरी का घेरा डाला था। ये कहानियाँ विद्याधर के निर्भीक चरित्र, उदार हृदय और जयचंद्र की विश्वासपात्रता की

सूचक है। इतना उदार और प्रभावशाली मंत्री देशीभाषा में कविता लिखता था, यही इस बात का सबूत है कि आखिरी दिनों में गाहड़वाल-दरबार में और दरबारों की ही भाँति भाषा-कविता का सम्मान होने लगा था। परन्तु ठीक उसी समय दुर्भाग्य का आक्रमण हुआ और गाहड़वाल-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि जयचन्द्र के दरबार में भट्ट केदार थे जिन्होंने 'जयचन्द्र-प्रकाश' नाम का एक ग्रन्थ लिखा था जो अब नहीं मिलता। शुक्लजी ने एक 'भट्ट भणन्त' की चर्चा की है^१ जिसमें केदार को शहाबुद्दीन गंगरी का दरबारी कवि बताया गया है; परवे इस 'भट्ट भणन्त' को विश्वासयोग्य नहीं मानते। परन्तु रासो के अट्ठावनवें समय में सचमुच ही एक दुर्गा केदार भट्ट की विस्तृत चर्चा है जो शहाबुद्दीन के दरबार से आया था और कवि चंद के साथ उसका केवल वाग्मुद्र ही नहीं हुआ था, बल्कि तंत्र-मंत्र के जोर की आजमाइश भी हुई थी। इस प्रकार यह बात केवल भट्ट भणन्त नहीं है, किसी पुरानी अनुश्रुति की स्मारक है। इसी प्रकार रासो के उन्नीसवें समय में माधो भाट को शहाबुद्दीन का राजकवि बताया गया है। यह व्यक्ति शहाबुद्दीन का विश्वासपात्र था और वह पृथ्वीराज के दरबार की गुप्त खबरें संग्रह कर रहा था। वह कई भाषाएँ बोल सकता था। हिन्दुओं से तो हिन्दुओं की भाषा बोलता था और मुसलमानों से मुसलमानों की। जो जैसे समझ सकता था उसे माधो भाट उसी प्रकार समझा देता था—

हिन्दू हिन्दुअ वचने रचने मेच्छाय मेच्छयं वचनं
जं जं जेम समुज्झं तं तं समुभाय माधवं भट्टं ॥

धर्मायन (ध्रमाइन) कायस्थ ने इस कवि को दरबार के भेद बता दिए थे। इन बातों से जान पड़ता है कि परम्परया यह बात विदित थी कि शहाबुद्दीन के दरबार में हिन्दू भाट सम्मान पाते थे। संभवतः पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जिसे मधुकर भट्ट कहते हैं वे माधो भाट ही हों। यह बात संभव जान पड़ती है। क्योंकि महमूद ने बहुत थोड़ा पहले ही गजनी के ब्राह्मण राजाओ से राज्य छीना था और वहाँ तब भी बहुत-से हिन्दू थे और कुछ पुराने बंदी जन भी उसके आश्रय में रह गए हों तो आश्चर्य करने की बात नहीं है। जो हो, इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि सुदूर गजनी में भी कुछ भाषा-कवि वर्तमान थे; परन्तु उनकी कविता कैसी होती थी, भाषा कैसी थी, यह जानने का कोई उपाय नहीं है। एक बात और भी विचारणीय है—

१ प्रथम विवाता ते प्रगट भए चंदीजन

पुनि पृथुजज्ञ तें प्रकास सरसान है।

माने सूत सौनकन बाँचक पुरान रहे,

जस को बखानै महासुख सरसान है।

चंद चौहान के केदार गोरी साह जू के

जंग अकबर के बखाने गुनगान है।

काग कैसे मांस अजनास धनभाँटन को

लूटि धरे ताको खुरा खोज मिटि जान है।

शिवसिंहसरोज (पृ० ३६०) में बताया गया है कि केदार कवि अलाउद्दीन गोरी के दरबार में रहता था। 'गोर' गजनी के उत्तर-पश्चिम में एक पहाड़ी इलाका है। यहाँ पहले हिन्दुओं की बस्ती भी थी और राज्य भी था। सुलतान महमूद के काल में ये लोग मुसलमान होने लगे। महमूद के बाद भी गजनी के अधिकार में ही गोर का इलाका था। सुलतान बहराम ने गोर के सर्दार कुतुबुद्दीन और उसके भाई सईफुद्दीन को क्रूरतापूर्वक मरवा डाला। इनका एक और भाई अलाउद्दीन गोरी था। उसने जब इस क्रूरतापूर्ण हत्या की बात सुनी तो बदला लेने का निश्चय किया। बहराम बहुत बड़ी गजसेना के साथ गोर पर चढ़ आया। अलाउद्दीन ने उसे हरा दिया और फिर गजनी पर क्रंभपूर्वक आक्रमण करके उसे जलाकर छारखार कर दिया। इस क्रूर अग्निकाण्ड के कारण उसे 'जहाँ सोज कहकर स्मरण किया गया है'। 'जहाँ सोज' अर्थात् 'जगद्वाहक'। इसी का भतीजा मुहम्मद गोरी था जो अपने भाई गयासुद्दीन की ओर से राज्य करता था। यह बहुत महत्वाकांक्षी था और इसने केवल गजनी जीतकर ही सन्तोष नहीं किया; बल्कि भारतवर्ष में धावे पर धावे बोल दिए। इसीका दूसरा नाम शहाबुद्दीन (धर्म का ज्वलन्त नक्षत्र) था। अलाउद्दीन के थोड़ा पहले हिन्दुओं का राज्य था और उसका वंश भी संभवतः एकाध पुस्त पहले ही मुसलमान हुआ था। तुर्कों की तरह वे पुस्तैनी मुसलमान नहीं थे। इसलिये यह संभव जान पड़ता है कि माधव और केदार भट्ट अलाउद्दीन गोरी के दरबार में रहे हों और शहाबुद्दीन ने भी उन्हें अपना विश्वासपात्र समझा हो। बाद में जयचंद्र के पतन के बाद लोगों में यह धारणा बन गई हो कि ये लोग जयचंद्र के कवि होंगे; क्योंकि राजपूताने में इस प्रकार का विश्वास किया जाने लगा था कि जयचंद्र मुहम्मद गोरी का मित्र था। रासो में तो जयचंद्र की मुसलमानी सेना का भी उल्लेख है।

भट्ट केदार और भट्ट मवुकर गोरी-दरबार के कवि हों या जयचंद्र के दरबार के, उनकी रचनाओं का कुछ पता नहीं चलता और इसीलिये उनके संबंध में कुछ कहना संभव नहीं है। इतना अवश्य है कि काशी-कन्नौज के दरबार में अन्तिम दिनों में भाषा-कविता का मान होने लगा था। प्राकृत पंग्ल में किसी या किन्हीं अज्ञात कवियों की रचनाएँ उदाहरण-रूप में उद्धृत हैं जो स्पष्ट ही काशीश्वर (संभवतः जयचंद्र) की महिमा बखानने के लिये लिखी गई थीं। कविताओं में बड़ी ही प्रौढ़ भाषा का नमूना मिलता है। दो-एक उदाहरण दिए जा रहे हैं—

रे गोड थक्कन्ति ते हत्थि जूहाइ । पल्लट्टि जुञ्जन्ति पाइक्क बूहाइ ।

कासीसु रात्रा सरासार अरणेण । की हत्थि की पत्ति की वीरवणेण ॥

[अरे गोड़ (देश के राजा !) तेरे हाथियों के यूथ थक गए हैं, पदातिक सेना के ब्यूह पलटकर जूझ रहे हैं। जब काशी के राजा के बाणों की वर्षा होने लगती है तो क्या हाथी क्या पैदल सेना और वीरवर्ग—कोई भी सामने नहीं डट सकता।]

रात्रह भगंता दिग लगंता, परिहर हअ गअ घर घरिणी ।

लोरहि भर सरवरु पअ अरु परिकरु लोट्टइ पिट्टइ तणु धरणी ॥

पुणु उट्टइ संभलि करु दंतंगुलि बाल तनअ कर जमल करे ।

कासीसर रात्रा यंदलु कात्रा, करु मात्रा पुणु थप्पि घरे ॥

[शत्रु राजा अपने हाथी, घोड़े, घर और घरनी को छोड़कर दिगन्तरो में भाग गए। उनके पदातिक और परिकर लोग तथा परिवार की स्त्रियाँ छाती पीटकर रोने लगीं और घरती पर लोटने लगीं। उनके आँसुओं से तालाव भर गए। फिर वे संभलकर उठीं, दाँतों तले अंगुलि दबाकर बालक पुत्रों को गोद में लिए हुए हाथ जोड़कर उपस्थित हुईं। स्नेहल कायावाले काशीश्वर ने उनपर दया की और फिर से उन्हें अपने-अपने पदों पर प्रतिष्ठित किया।]

इसी प्रकार की और भी कई रचनाएँ मिलती हैं। राहुलजी का अनुमान है कि ये सब रचनाएँ विद्याधर की होंगी। ऐसा जान पड़ता है कि दो सौ वर्षों तक काशी में और कान्यकुब्ज में राज्य करने के कारण गाहड़वाल नरेश काशी और कान्यकुब्ज की भाषा को अपनी भाषा समझने लगे थे और शुरू-शुरू के गाहड़वालों में अपनेको स्थानीय जनता से विशेष और भिन्न समझने की जा प्रवृत्ति थी वह कम होने लगी थी। गोविन्दचन्द्र के सभापण्डित दामोदरभट्ट ने राजकुमारों को काशी की भाषा सिखाने का प्रयत्न किया था और उसका परिणाम यह हुआ कि राजकुमार अब अपनेको इसी प्रदेश के लोगों में से समझने लगे थे और धीरे-धीरे देशी भाषा को भी इस दरबार में प्रोत्साहन मिलने लगा था। दुर्भाग्यवश जयचंद्र के साथ ही इस प्रोत्साहन और प्रवृत्ति दोनों का अन्त हो गया।

परन्तु इतना सत्य है कि ये गाहड़वाल कहीं बाहर से आए थे। कहाँ से आए थे, यह विवादास्पद है। जोधपुर के राठौड़ अपने को जयचंद्र का वंशज मानते हैं और बदायूँ में भी महमूद के आक्रमण के समय कोई राठौड़वंशीय राजा चन्द्र राज्य करता था। यह नहीं बताया गया कि वह बदायूँ में कहाँ से आया था; परन्तु अनुमान कर लिया जा सकता है कि गजनी के अमीरों के दबाव से जो राजपूत पंजाब या गांधार छोड़कर पूरब की ओर आए उन्हीं में यह राजवंश भी था। चन्द्र की छठी पुस्त में मदनपाल हुआ था जिसकी प्रशंसा में कहा गया है कि उसी की शक्ति के कारण हमीर गंगा की ओर नहीं आ सका। जो हो, यह अनुमान किया गया है कि इसी वंश के प्रथम राजा चंद्र ने और भी आगे बढ़कर कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया था। यह संभव जान पड़ता है। यह अनुमान यदि ठीक हो तो गाहड़वाल दक्षिण से नहीं, पश्चिम से आए थे। काशी-कान्यकुब्ज में उस समय तक भी दक्षिण के राष्ट्रकूटों की स्मृति बनी थी। वे जैन थे। संभवतः उनसे अपने को भिन्न घोषित करने के लिए ही इन राजाओं ने अपनी प्रशस्तियों में 'राष्ट्रकूट' शब्द का व्यवहार नहीं किया; पर उनके घर में यह परंपरा बराबर बनी रही कि वे 'राठौड़' हैं। मुझे लगता है कि काशी के आस-पास के गहरवार इन्हीं गाहड़वालों के उतराधिकारी हैं। गोत्र और कुल का विवाद खड़ा करके इनको जोधपुर के राठौड़ों से या काशी के गाहड़वाल राजाओं से भिन्न बतानेवाले इस देश में राजपूत गोत्रों की परंपरा से एकदम अपरिचित हैं।

परन्तु यह थोड़ी अवान्तर बात आ गई। प्रकृत प्रसंग यह है कि गाहड़वाल राजा शुरू-शुरू में अपने को इस प्रदेश की जनता से भिन्न और विशिष्ट बने रहने की प्रवृत्ति के कारण देशी भाषा और उसके साहित्य को आश्रय नहीं दे सके और यही कारण है

कि जहाँ तक उनका राज्य था वहाँ तक का कोई देशी भाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। अन्तिम पीढ़ियों में ये लोग देशी भाषा के साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे; किन्तु तबतक दुर्भाग्य का प्रहार हुआ और संपूर्ण उत्तरी भारत विदेशी शासन से आक्रान्त हो गया। इन नये शासकों को देशी जनता के साथ एक होने में और भी अधिक समय लगा।

उधर अजमेर के चौहान उस प्रदेश के पुराने वाशिनदे थे। सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी के मध्यभाग में ही सपादलक्ष (सवा लाख गाँवों का देश) या शाकंभरी क्षेत्र (साँभर) में सामन्तसिंह ने चौहानवंश का राज्य स्थापित किया था। उसने उसी समय सिंध की ओर से बढ़ते हुए अरबों से कसके लंहा लिया था और इस प्रकार चौहानों की वह वीर-परंपरा स्थापित की थी जो तृतीय पृथ्वीराज के समय तक मुस्लिमवाहिनी से निरन्तर टक्कर लेने में प्रख्यात हो चुकी है। महमूद ने साँभर को नहीं छोड़ा था। इसलिये यह राज्य बचा रहा गया था। प्रथम पृथ्वीराज के पुत्र अजयपाल ने साँभर से अपनी राजधानी अजमेर में हटा ली थी। अजमेर का नाम अजयसिंह के नाम पर ही है। इस वंश में अर्णोराज और चतुर्थ बीसलदेव (विग्रहराज) बहुत ही प्रतापी और कविकल्पवृक्ष राजा हुए। बीसलदेव स्वयं अच्छे कवि थे। उनका लिखा एक प्रस्तरखण्ड पर क्षोदित हर-केलि नाटक आंशिक रूप में प्राप्त हुआ है।^१ इसका आधार किरातार्जुनीय काव्य है, इसमें राजा स्वयं अर्जुन का स्थानापन्न है। महादेवजी उसे दर्शन भी देते हैं। इनके राजकवि सोमदेव ने ललितविग्रहराज नाम का एक नाटक लिखा था। यह भी एक प्रस्तरखण्ड पर आंशिक रूप में क्षोदित मिला है। इसमें इन्द्रपुर के राजा वसन्तगाल की पुत्री देसलदेवी के साथ बीसलदेव के प्रेम का वर्णन है। राजा और राजपुत्री कल्पित जान पड़ते हैं और उन दिनों के ऐतिहासिक समझे जानेवाले काव्यों की प्रकृति का सुन्दर परिचय देते हैं। इसी बीसलदेव के काल्पनिक प्रेम-कथानक को परवर्ती काव्य बीसलदेवरासो में वर्णन किया गया है। यहाँ प्रेमयात्री मालवा के परमार राजा भोज की कल्पित पुत्री राजमती है। इस काव्य में बीसलदेव रूठकर उड़ीसा की ओर जाता है; परन्तु ललितविग्रहराज में वह प्रिया के पास यह संदेश भिजवाता है कि पहले हम्मीर का मानमर्दन कर लूँ तब उसके पास आऊँगा। दोनों ही कवियों ने ऐतिहासिक तथ्यों की परवा न करके उन दिनों की प्रचलित प्रथा के अनुसार संभावनाओं पर जोर दिया है। बीसलदेव कवियों का आश्रय-दाता था और उसके दरबार में भाषा-काव्य की थोड़ी प्रतिष्ठा भी थी। नरपतिनाल्ह के बारे में तो, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह संदेह ही है कि वह कब का कवि है; पर अनुश्रुतियाँ सिद्ध करती हैं कि बीसलदेव के दरबार में भाषा-कवियों का मान था। वह स्वयं बड़ा प्रतापी राजा था। काशी-कान्यकुब्ज के राजाओं की भाँति यह वंश बाहर से नहीं आया था और साधारण जनता की भाषा की उपेक्षा नहीं करता था। दिल्ली के लोहस्तंभ पर उसने गर्वपूर्वक घोषणा की थी कि मैंने विन्ध्याचल से हिमालय तक की सभी भूमि को म्लेच्छ-विहीन करके यथार्थ आर्यावर्त बना दिया है। अपने वंशजों को पुकारकर वह कहता है कि मैंने तो हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यवर्ती देश को करद बना लिया है, परन्तु बाकी पृथ्वी को जीतने में तुम लोगों का मन उद्योग-शून्य न हो, इस

बात का ध्यान रहे ।^१ वीसलदेव नाम ही अपभ्रंश नाम है । प्रबन्धचिन्तामणि में एक मजेदार कहानी है जिसमें बताया गया है कि वीसलदेव ने अपना नाम बदलकर विग्रहराज क्यों रखा । वीसलदेव का एक सान्धिविग्रहिक कुमारपाल की सभा में आया । उसने 'वीसल' को संस्कृत 'विश्वल' [विश्व को (जीत) लेनेवाला] से व्युत्पन्न बताया । कुमारपाल के मंत्री कपर्दी ने 'विश्वल' (वि = पक्षी, श्वल = भागनेवाला) का अर्थ किया—चिड़ियों की तरह भागनेवाला । यह सुनकर वीसलदेव ने अपना नाम बदलकर विग्रहराज रखा । पर कपर्दी ने इसका भी बेढंगा अर्थ सिद्ध कर दिया । उसने बताया कि इस शब्द का अर्थ हुआ शिव और ब्रह्मा की नाक काटनेवाला (वि + ग्र + हर + अज) ! तब वीसलदेव ने अपना नाम 'कविवांधव' रखा । यह कहानी तो परवर्ती काल का विनोद है; किन्तु इससे एक बात सिद्ध होती है कि वीसलदेव अपने को 'कविवांधव' कहता था और उसका यह कहना ठीक था । पुरातनप्रबन्ध में उसकी रानी नागल देवी का संगीतकला में अत्यंत निपुण बताया गया है । राजा वीसलदेव स्वयं संगीत से एकदम अनभिज्ञ था । रानी ने उसे गंगीनयिका सिखाई थी । जैन-प्रबंधों से वीसलदेव के समय की कुछ देशी भाषा की रचनाओं का भी परिचय मिल जाता था ।

वीसलदेव के राज्य में जगडू साहु (वसाह जगडुक) बड़े प्रसिद्ध दानी थे । इन्होंने अकाल के समय जनता की बड़ी सेवा की थी और तत्कालीन कवियों ने इनके दान की बड़ी प्रशंसा की है—

नियतिदानदाता हरिकान्ताहृदयहारशृंगारः ।

दुर्भिक्षसन्निपाते त्रिजगडु (त्रिजगति ?) जगडू चिरं जीयात् ॥

—पृ० प्र० ५०-८०

देशी भाषा में इनकी दानशाला की प्रशंसा में कुछ पद्य प्रचलित हैं । एक दोहा इस प्रकार है—

नव करवाली मणिअडा तिहिं अगला चियारि ।

दानसाल जगडू तणी किन्ती कलिहि मभारि ।

—पृ० प्र० ५०-८०

-
- १ आविन्ध्यादाहिमाद्वैर्विचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसङ्गात्
उद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनमस्कन्धरेषु प्रसन्नः ।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छ-विच्छेदनाभि—
दैवः शाकम्भरीन्द्रो जगति विजयते वीसलः क्षोणिपालः ॥
भूते सम्प्रति चाहमानतिलको शकम्भरी - भूपतिः
श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी सन्तानजानात्मजान् ।
अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः
शेष - स्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योगशून्यं मनः ॥

इसका पाठ उपदेशतरंगिणी (पृ० ४१) में इस प्रकार है—

नउ करवाली मणियडा ते अगगीला च्यारि ।

दानसाल जगडूतणी दीसइ पुहवि मंभार ॥

जगडू बड़े सीधे-सादे थे । उस समय के सभी राजाओं को उन्होंने अकाल में सहायता देने के लिये अशक्तियों से सहायता की थी । बीसलदेव को आठ हजार स्वर्णमुद्राएँ दी थीं, लाहौर के तुर्क अमीरों को १६ हजार और सुलतान को २१ हजार स्वर्ण-मुद्राएँ दी थीं—

अट्टय मूड सहस्सा बीसल देवस्स सोल हम्मीरा ।

एकबीसा सुलताणा पयदिन्ना जगडु दुक्काले ॥

इस प्रकार के उदार दानी धनकुबेर के बारे में प्रसिद्ध हैं कि वे इतने सीधे-सादे वेश में रहते थे कि एक बार राजा बीसलदेव उन्हें पहचान ही नहीं सके, और जब परिचय कराया गया तो आश्चर्य के साथ पूछ बैठे कि ऐसा वेश क्यों बनाया है । जगडू ने नम्रता के साथ उत्तर दिया कि महाराज, कपड़े और गहनों से शोभा नहीं बढ़ती; मनुष्य गुण से शोभा पाता है । गहना पहनकर छोटी अँगुलियाँ सुशोभित होती हैं, मध्यमा तो अपनी बड़ाई से ही बड़ी लगती है !—

तन्वन्ति डंबरभरैर्महिमा न मन्ये श्लाघ्यो जनस्तु गुणगौरवसंपदैव ।

शोभा विभूषणगुणैरितरांगुलीनां ज्येष्ठस्त्वमेव रुचिरं खलु मध्यमायाः ॥

ऐसे उदार और सरल दानवीर की महिमा बखानने के लिये कवियों की भाषा यदि मुखर हो उठी थी तो इसमें आश्चर्य करने की बात नहीं है । बीसलदेव का विरुद्ध जगडू के दान पर अवलंबित था—

बीसल दे विरुअ करइ जगडु कहावइ जी ।

तुउ परीसइ फालिसउ एउ परीसइ घी ॥

इस प्रकार के अजमेर में आगे चलकर चंद वरदाई-जैसे महाकवि का होना उचित ही है । समुद्र में ही कौस्तुभ मणि के उत्पन्न होने की संभावना सोची जा सकती है ।

इसी प्रकार कालिंजर के चंदेलों का वंश बहुत काल से बुन्देलखण्ड में राज्य कर रहा था । इन चंदेलों ने अपनी प्रशस्तियों में अपने का चन्द्रात्रेय गोत्र का कहा है । पंडितों में इस गोत्र को लेकर भी थोड़ा चखचख है । कुछ लोग कहते हैं कि चन्द्रात्रेय शब्द 'चंदेल' शब्द के आधार पर बना ली गई परवर्ती कल्पना है । मुझे ऐसा लगता है कि यह शब्द वस्तुतः पुरोहित के गोत्रनाम का अपभ्रंशरूप है । अनुमान किया जा सकता है कि इन क्षत्रियों के पुरोहित वही शाण्डिल्यगोत्री ब्राह्मण थे जिन्हें कभी कर्ण के साथ सरयूपार आना पड़ा था और इस शाण्डिल्य का ही अपभ्रंश रूप 'चंदेल' है । बाद में इसका मूल अर्थ भुला दिया गया और चंदेल का संस्कृत रूप उसी प्रकार 'चन्द्रात्रेय' बना लिया गया जिस प्रकार त्रिपुर या तैवार के रहनेवाले तिवारी ब्राह्मणों ने तिवारी शब्द को त्रिपाठी के रूप में संस्कृत बनाया । इन राजाओं के दरबार में भी भाषाकवि का मान था । इनका सबसे अन्तिम प्रतापी राजा परमर्दी या परमाल था जिसने ११६५ से १२०३ ई० तक राज्य किया । इसीके दरबार में वणाफर कुल के प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल थे । पृथ्वीराज से परमर्दी का युद्ध हुआ था जिसका वर्णन जगनिक के महोवाखण्ड में हुआ है । इसमें परमर्दी हार गया

और आल्हा-ऊदल काम आए। पृथ्वीराज ने महोबे में अपने प्रसिद्ध सरदार पञ्जून को रखा। पृथ्वीराज का एक लेख मदनपुर में प्राप्त हुआ है जिससे इस घटना की ऐतिहासिकता प्रामाणित होती है। लेकिन इस युद्ध में हारने के बाद भी परमर्दी जीवित था और शक्तिशाली भी बना रहा। १२०३ ई० में वह कुतुबुद्दीन से लड़ा था। पृथ्वीराज से उसकी लड़ाई ११८२ ई० में हुई थी। उस समय इस महाप्रतापी राजा का बल टूट गया होगा और वह आसानी से आगे चलकर मुसलमानों के हाथ पराजित हो सका होगा। इन बीस वर्षों के भीतर ही कभी जगनिक का वह ओजपूर्ण काव्य लिखा गया होगा जो बहुत दिनों तक आल्हा और ऊदल की स्मृति में लोककंठ में जीता रहा और बहुत दिनों तक अपने क्षेत्र में ही सीमित बना रहा। फिर कई सौ वर्ष बाद अत्यन्त परिवर्तित रूप में लिखवाया गया। यह स्वाभाविक भी था। क्योंकि जब काव्य के आश्रयदाता राजा उच्छिन्न हो गए तो उसका एकमात्र सहारा जनचित्त ही रह गया। किसी धर्मसम्प्रदाय का तो उसे सहारा मिलना नहीं था इसलिये वह काव्य बहुत परिवर्तित रूप में प्राप्त हुआ है; परन्तु चंदेल-दरवार में भाषा-काव्य के सम्मानित होने का सबूत अवश्य देता है।

दूसरी ओर गुजरात और मालवा के राजवंश थे। गुजरात के राजा कुमारपाल तो बाद में जैनाचार्य हेमचंद्र के प्रभाव से जैन हो गए थे। यद्यपि कुछ लोग उनके जैनधर्म-ग्रहण के बारे में सन्देह ही करते हैं; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं करता कि वे जैन-प्रभाव में आए थे और जैनधर्म को उन्होंने बहुत प्रोत्साहन भी दिया। मालवा के परमार वैदिक धर्मानुयायी थे, परन्तु उन्होंने देशभाषा की उपेक्षा नहीं की। गुजरात के राजाओं का आश्रय पाने के कारण वहाँ अपभ्रंश और देशभाषा खूब फली-फूली। मान्यखेट के राष्ट्रकूटों ने भी अपभ्रंश का मान किया। उत्तर भारत के स्वयंभू और पुष्पदन्त-जैसे प्रतिभाशाली कवियों की कृतियाँ वहीं सुरक्षित हुईं। उधर पूर्व में, पश्चिमी बंगाल में, गौड़ों का दुर्दान्त राज्य था। ये लोग बौद्ध थे और इन्होंने तत्कालीन सहजयानी बौद्धधर्म को प्रोत्साहन और संरक्षण दिया। इन पालवंशी गौड़ राजाओं की कृपा से ही बौद्ध सिद्धों के कुछ देशीभाषा के गान लिखित हुए जो बाद में नेपाल-दरवार का राज्याश्रय पाकर किसी प्रकार सुरक्षित रह गए हैं। पर इन बौद्ध राजाओं की देशी भाषा और बौद्धधर्म को प्रश्रय देने की प्रतिक्रिया भी हुई और पूर्वी बंगाल में कर्णट देश से आए हुए सेन राजाओं का अभ्युदय हुआ जिन्होंने संस्कृत भाषा और ब्राह्मणधर्म को बंगाल में फिर से सहारा दिया। सेन राजा गाहड़वारों की भाँति पक्के वैदिक मतानुयायी थे और स्थानीय लोगों से अपने को भिन्न और श्रेष्ठ समझते थे। कुलीनता के अभिमान को इन राजाओं ने बंगाल में बद्धमूल कर दिया। यही कारण है कि इस काल में पूर्वी बंगाल में देशी भाषा का साहित्य नहीं मिलता। पाल राजाओं की कृपा से सुरक्षित साहित्य वर्तमान बिहार के पूर्वी और पश्चिम बंगाल के पश्चिमी इलाकों में लिखित साहित्य है। निस्सन्देह उनमें मध्यदेश की भाषा और साहित्य के भी कुछ चिह्न हैं; क्योंकि पाल राजाओं का संबंध बराबर काशी और कान्यकुब्ज से बना रहा। यह संबंध तीन प्रकार से रक्षित रहा—युद्ध से, विवाह से, तीर्थयात्रा से। इस प्रकार इस साहित्य के आधार पर हम मध्यदेश की साहित्य-साधना का आभास पा सकते हैं। सुप्रसिद्ध महाराज गोविन्दचन्द्र की रानी कुमार देवी गौड़ के राजा रामपाल के मामा

महत की दौहित्री थीं और उन्हीं के सामन्त देवरक्षित की पत्नी । उन्होंने सारनाथ में बौद्ध विहार बनवाया था । उनका एक दानपत्र प्राप्त हुआ है । इस संबंध से यह सूचित होता है कि युद्ध-विग्रह होते रहते थे और विवाह-संबंध भी चलते ही रहते थे । तीर्थ-यात्रा तो थी ही । अस्तु ।

गाहड़वालों के शासनकाल में समूचा हिंदीभाषी क्षेत्र स्मार्तमतानुयायी था । उनका प्रभाव जब क्षीण हो गया और अजमेर, कालिंजर आदि अधीनस्थ प्रान्तों में स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए तब भी स्मार्तमत ही प्रबल रहा । इस समय शैवमत का भी बड़ा प्रभाव था । सिद्धियों की महिमा प्रतिष्ठित हो गई थी । शैवमतानुयायी नाथयोगियों, रसेश्वरमत के माननेवाले रस-सिद्धों और मंत्र-तंत्र में विश्वास करनेवाले शाक्त-साधकों का इन क्षेत्रों में बड़ा जोर था । उन दिनों के साहित्य में इनकी बड़ी चर्चा आती है, परन्तु जैनों की भाँति इन शैव-साधकों के संगठित मत नहीं थे और देशी भाषा पर विशेष अनुराग भी नहीं था । फिर इनके उपदेश में साधारण जनता के संबंध में बड़ी अवज्ञा का भाव है । वे इन अधम जीवों को भय ही दिखाते थे । चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भरमते रहनेवाले, काम-क्रोध के कीड़े, मायापंक में आपाद-मस्तक डूबे हुए, अज्ञानी जीव केवल घृणा करने और तरस खाने के पात्र माने जाते थे । गृहस्थ इन योगियों से डरता था । इवनवतूता ने ग्वालियर-कालिंजर में इन योगियों को देखा था । उन दिनों लोग इनसे भयभीत थे ; क्योंकि उनका विश्वास था कि ये आदमियों को खा जाते हैं ! इस प्रकार जनता के प्रति अवज्ञा और घृणा का भाव रखनेवाले लोग लोकभाषा में कुछ लिखते भी हों तो वह लोक-मनोहर हो नहीं सकता । कुछ थोड़ी-सी रचनाएँ इन योगियों की मिल जाती हैं ; पर एक तो उन्हें जन पुस्तकों के समान संगठित भाण्डारों का आश्रय नहीं मिला, दूसरे वे आल्हा आदि की भाँति लोक-मनोहर भी नहीं हो सकीं । इनकी रक्षा का भार संप्रदाय के कुछ अशिक्षित साधुओं के हाथों रहा । उन्होंने इन रचनाओं को प्रमाणित रूप में सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं किया । जो कुछ भी साहित्य बचा है वह केवल इस बात की सूचना दे सकता है कि वह किस श्रेणी का रहा होगा और उसकी प्राणवस्तु कैसी थी । परवर्ती साहित्य में इन योगियों का उल्लेख दो प्रकार से आया है—(१) सूफी कवियों की कथा में नाना प्रकार की सिद्धियों के आकर के रूप में और (२) सगुण या निर्गुण भक्त कवियों की पुस्तकों में खण्डनों और प्रत्याख्यानो के विषय के रूप में । दोनों ही बातें इनके प्रभाव की सूचना देती हैं ।

ग्यारहवीं शत.ब्दी के आरंभ में कलचुरिवंश के राजा लोग भी परम शैव थे । युवराज-देव के राज्य में पाशुपतों के कालामुख संप्रदाय का बड़ा मान था । युवराज देव ने, रीवाँ के पास स्थित गोरगी (गोलगिरि, गोलकी) नामक स्थान पर एक विशाल शैवमठ की स्थापना कराई थी जिसकी शाखा सुदूर दक्षिण तक फैली हुई थी । मद्रासप्रान्त के मलका-पुरम् ग्राम के एक शिलालेख से पता चलता है कि गंगा और नर्मदा के अन्तराल में डाहल देश (वर्तमान बुन्देलखण्ड) है । उसमें सद्भावशंभु नाम के शैव साधु थे जिन्हें कलचुरि राजा युवराजदेव ने तीन लाख गाँवों का एक प्रदेश भिक्षा में दिया था । उसी में गोलकी या गोलगिरि मठ की स्थापना हुई थी । इस मठ के माध्यम से दक्षिण और उत्तर के शैवमतों

में संबंध स्थापित हुआ था। कहते हैं, त्रिपुरी के पास जो चौंसठ योगिनियों का मन्दिर है वह भी किसी समय इसी मठ की शाखा रहा होगा। (दे०—ना० प्र० पत्रिका, भाग ६, अंक ४ में रायबहादुर हीरालाल का लेख)। कलचुरियों का सबसे प्रतापी राजा कर्ण परम शैव था। उसने काशी में बारहमंजिला शिवमंदिर बनवाया था जिसका नाम कर्णमेरु रखा था। उसने काशी को अपनी राजधानी भी बनाना चाहा था; परन्तु किसी कारणवश उसकी मनःकामना पूर्ण नहीं हुई और वह काशी छोड़ने को बाध्य हुआ। उसके साथ आए हुए ब्राह्मण अब भी काशी और सरयूपार में प्रतिष्ठित हैं। गाहड़वाल राजाओं की सत्ता स्थापित होने के बाद इस मत को कोई क्षति नहीं पहुँची, सहायता ही मिली। सिद्धियों के प्रति लोगों का विश्वास दृढ़ ही हुआ। उत्तर और दक्षिण से शैव-साधना की लहरें आती रहीं और एक दूसरे को बल देती रहीं।

बारहवीं शताब्दी में लगभग समूचे भारत में शैवमत का प्राबल्य था। उत्तर में उसका एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण रूप नाथमत था जो दक्षिण के शैवमत से बहुत संबद्ध नहीं जान पड़ता। जैनधर्म से प्रभावित होने के कारण, आंशिक रूप से बौद्ध साधना को आत्म-सात् करने के कारण, स्मार्तधर्म का आश्रय पाने के कारण और मुस्लिम आक्रमण के रूप में विजातीय संस्कृति की उपस्थिति के कारण वह निर्गुणपंथी, सहनशील और उदासीन बना रहा। उसका आक्रामक रूप केवल जातिव्यवस्था के प्रति, मायाजाल में फँसे हुए दयनीय जीवों के प्रति और हिंसामूलक और दुर्नीतिमूलक आचरणों के प्रति जीता रहा। नहीं तो गोरक्षनाथ—जैसे अक्खड़ साधक भी अपने शिष्यों को यही उपदेश दे गए हैं कि—

कोई वादी कोई विवादी जोगी कौं बाद न करनां ।

अइसठि तीरथ समंद समानैं यूँ जोगी कौं गुरुमुपि जरनां ॥

और,

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरैं धरिवा पावें ।

गरब न करिबा, सहजैं रहिबा, भणैंत गोरप रावें ॥

अहिंसा में इन लोगों का उतना ही दृढ़ विश्वास था जितना जैनों या वैष्णवों का। गोरक्षनाथ ने मांसभक्षण और नशा-सेवन दोनों का घोर विरोध किया था—

जोगी होइ पर निंदा भूखै । मद मांस अरु भांगि जो भूखै ।

इकोतर सैं पुरिपा नरकहिं जाई । सति सति भापंत श्री गोरख राई ॥

और,

अवधू मांस भषन्त दयाधरम का नास

मद पीवत वहां प्राण नीरास

भांगि भषंत ग्यांन ध्यांन पोवंत

जम दरबारी ने प्राणी रोवंत ।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य और इन्द्रियसंयम पर भी इन्होंने बहुत जोर दिया है—

यंद्री का लइबड़ा जिभ्या का फूहड़ा

गोरख कहैं ए परतपि चूहड़ा ।

पूर्वी भारत में बौद्धधर्म के तंत्र-मंत्रवाले अन्तिम वज्रयानी रूप का प्राबल्य था। सेनराजाओं के समय उड़ीसा होते हुए दक्षिणी वैष्णवधर्म का प्रवेश बंगाल में हुआ। उत्तर में वैष्णवधर्म उतना ऐकान्तिक नहीं था जितना दक्षिण में। ऐकान्तिक भक्ति के साथ वज्रयानी भावनाओं के मिश्रण से वैष्णवधर्म ने उड़ीसा में एक नया रूप ग्रहण किया। शुरु-शुरु में सेनराजा शैव थे। विजयसेन स्वयं अपने को परम शैव मानते थे; परन्तु उन्होंने प्रद्युम्नेश्वरका मंदिर बनवाया था जिसकी मूर्ति में शिव और विष्णु का मिश्रण था। उस मंदिर के एक लेख में इस मिश्रमूर्ति का बड़ा सुन्दर कवित्वमय वर्णन दिया गया है।^१ विद्यापति के पदों में शिव और विष्णु के इसी मिश्ररूप का वर्णन इस प्रकार है—

धन हरि धन हर धन तव कला ।

खन पीत वसन खनहिं बघछला । इत्यादि ।

जो लोग विद्यापति के बारे में कहा करते हैं कि वे शैव थे, अतएव वैष्णव भक्त नहीं हो सकते; वे उस काल की इस मनःस्थिति को नहीं जानते। समूचा उत्तर भारत प्रधानरूप से स्मार्त था, शिव के प्रति उसकी अखण्ड भक्ति बनी हुई थी; परन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था और विष्णु को भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण देवता मानता था। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय। गाहड़वाल-नरेश अपने को माहेश्वर भी कहते थे और अपनी प्रशस्तियों में लक्ष्मीनारायण की स्तुति भी किया करते थे। इसी सहनशील, उदार और अनाक्रामक धार्मिक मनोभाव की पृष्ठभूमि में हिंदी का आदिकालीन साहित्य लिखा गया। भक्ति के बीज के अंकुरित और पल्लवित होने की यह उपयुक्त भूमि थी।

बहुत-सी परवर्ती स्मृतियाँ और उपपुराणजातीय पुस्तकें, बहुत-सी वैष्णव और शैव संहिताएँ इसी काल में लिखी गईं जिनमें भावी भक्ति-साहित्य के प्रेरणा-बीज वर्तमान थे।

इस काल में जो दो श्रेणी की अपभ्रंश और देश्यमिश्रित रचनाएँ मिलती हैं वे इस युग की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक अवस्था के अनुरूप ही हैं। (१) इस काल में केन्द्रीय शासन टूट चुका था। पश्चिम की ओर से विजातीय संस्कृति के पोषक दुर्दान्त शत्रुओं का निरन्तर आक्रमण हो रहा था। भारतवर्ष के वीर राजपूत उनसे जमकर लोहा भी लेते थे और केन्द्रीय सत्ता के हथियाने की फिक में भी रहते थे। उन्हें युद्ध करना पड़ता था। वे अपनी स्तुति भी सुनना चाहते थे। युद्ध उन दिनों के राजपूत राजाओं के लिये आवश्यक कर्तव्य हो गया था। उन्हें अन्य राजकीय गुणों के विकास करने और

लक्ष्मीवल्लभगैलजादधितोरद्वैतलीलागृहं

प्रद्युम्नेश्वरशब्दलाञ्छनमधिष्ठानं नमस्कुर्महे ।

यत्रालिङ्गनभंगकातरतया स्थित्वान्तरे कान्तयोः

देवीभ्यां कथमप्यभिन्नतनुतां शिल्पेऽन्तरायः कृतः ॥

चित्रलोभेभचर्मो हृदयविनिहितस्थूलहारोरोगेन्द्रः

श्रीखण्डबोद्धभस्मा करनिहितमहानीलरत्नाक्षमालः ।

वेधस्तेनास्य तेने गरुडमणिलतागोनसः कान्तमुक्ता

नेपथ्यन्यस्तमाला समुचितरचने कल्पकापालिकस्य ॥

लोकनिष्ठ करने का अवसर नहीं मिलता था। लड़नेवालों की संख्या कम थी, क्योंकि लड़ाई भी जातिविशेष का पेशा मान ली गई थी। देशरक्षा के लिये या धर्मरक्षा के लिये समूची जनता के सन्नद्ध हो जाने का विचार ही नहीं उठता था। लोग क्रमशः जातियों और उपजातियों में तथा संप्रदायों और उपसंप्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़नेवाली जाति के लिये सचमुच ही चैन से रहना असंभव हो गया था। क्योंकि उत्तर, पूरव, दक्षिण, पश्चिम सब ओर से आक्रमण की संभावना थी। निरन्तर युद्ध के लिये प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देनेवाली घटना-योजना का आविष्कार। उस काल के साहित्य में ऐसी छोटी-छोटी बातों पर लड़ाई हो जाने की बात मिलती है कि आज का सहृदय विस्मय से देखता रह जाता है। पृथ्वीराज के चाचा कन्ह ने किसी को मूँछों पर हाथ फेरते देखा, सिर उतार लिया। पछतावा उन्हें भी हुआ। प्रायश्चित्तरूप में उन्होंने आँखों पर पट्टी बाँध ली। यह वीरता का आदर्श था ! इन कवियों ने राजस्तुति के नाम पर असंभव घटनाओं और अपतथ्यों की योजना की। विवाह भी इस वीरता का एक बहाना बनाया गया। आजकल के ऐतिहासिक विद्वान बेकार ही इन घटनाओं और अपतथ्यों से इतिहास खोज निकालने का प्रयास करते हैं। इन काव्यों में व्यापक रूढ़ियों के आधार पर अपने राजा को या काव्य-नायक को उत्साह का आश्रय और रति का आलम्बन बनाना चाहा है। इनमें इतिहास को समझने का कम और तत्काल प्रचलित काव्य-रूढ़ियों को समझने का अधिक साधन है।

दूसरी ओर हिमालय के पाददेश में कामरूप से लेकर हिमालय तक एक प्रकार की यक्ष-पूजा दीर्घकाल से प्रचलित थी जो बौद्धधर्म के पिछले दिनों में बौद्धधर्म को प्रभावित करने में समर्थ हुई और वज्रयान नाम से अभिहित हुई। उपासकदशासूत्र में मणिभद्र-चैत्य का उल्लेख है और संयुक्तनिकाय में मणिभद्र यक्ष की चर्चा है। आगे चलकर यही मणिभद्र बुद्ध के प्रधान शिष्यों में गिने जाने लगे। फिर आगे चलकर बौद्धधर्म में वज्रपाणि यक्ष तो बोधिसत्त्व का पद पा गए और कृष्णयमारितंत्र में इन्हें सर्वतथागताधिपति कहा गया है। यक्षों और गुप्तकों का भोगपरक तांत्रिकधर्म क्रमशः शक्तिशाली होता गया और आगे चलकर 'तथागतगुह्यक'-जैसे तांत्रिक शास्त्रों की रचना हुई। यह यक्ष-कुल जिसमें अप्सराएँ, कामदेव और गंधर्वगण हैं, वज्रपाणि बोधिसत्त्व का उत्पत्तिस्थल बताया गया है। इन लोगों का प्राधान्य हिमालय के पाददेश में दीर्घकाल से था। बौद्धधर्म की उँगली पकड़कर यह साधना मैदान में आई और सातवीं-आठवीं शताब्दी में काफी शक्तिशाली हुई। नवीं-दसवीं शताब्दी में इस साधना को प्रतिकूल सामाजिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। ऐतिहासिक कारणों के दबाव से जातिशुद्धि गृहस्थ की प्रधान चिन्ता की बात बन गई थी, परिणामस्वरूप मैदान में जातियों और उपजातियों का बोलबाला बढ़ता गया। विदेशी और विजातीय संस्कृति के दबाव से हिंदुओं में एक तरफ जिस प्रकार जातिशुद्धि पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा था उसी प्रकार आपस के धार्मिक खिचाव को कम किया जाने लगा और उदार आचार-प्रधान स्मार्तधर्म की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार जाति-पाति की ओर से कठोर,

आचारपालन में दृढ़ और पूजा-उपासना में सहिष्णु तथा उदार हिंदूधर्म का आविर्भाव हुआ। फिर नवागत और नवोत्कर्ष-प्राप्त जातियाँ अपने उच्च कुल को, साधारण जनता से अपनी विशिष्टता को और अत्यन्त पुरानी परंपरा के कल्पित दावों को जितने ही दृढ़कंठ से उद्धोषित करती गईं उतनी ही कठोरता से साधारण जनता ने अपनी पुरानी परंपरा की स्मृति बचा रखने का प्रयास किया। आर्थिक और राजनीतिक कारणों से उन्हें सर्वत्र सफलता नहीं मिली; पर प्रवृत्ति अधिकाधिक वंशशुद्धि की रक्षा और आचारपालन की कठोरता की ओर बढ़ती गई। इस प्रकार के समाज में यौनभावापन्न साधना के लिये अनुकूल वातावरण नहीं मिल सकता। इसका फल यह हुआ कि इस प्रकार के सन्तों की अभिव्यक्ति संकोचपूर्ण, द्विविधाग्रस्त, रहस्यनिर्माण और उलटबाँसी-जैसी रचनाओं के माध्यम से होने लगी। नाथपंथियों ने ब्रह्मचर्य को तो कसके अपनाया; परन्तु उक्त साधनाओं से उनका पुराना संबंध होने के कारण वे भी इसका इस प्रकार की अभिव्यक्ति करने लगे कि शिव-शक्ति का खेल पिंड में ही चल रहा है। यह बात विरासत में निर्गु-गिया सन्तों ने भी पाई; परन्तु जब धर्ममत और सामाजिक व्यवस्था परस्परविरোধी नहीं रही तो भक्तिकाल में इस प्रकार की रहस्यात्मकता की आवश्यकता नहीं रह गई। पूर्वी प्रदेशों में जहाँ भक्तिमार्ग सहजिया भावापन्न था वहाँ कुछ रहस्यात्मकता बाद में भी बनी रही; पर धार्मिक मत के सामाजिक नियमों के अनुकूल होते ही मध्यदेश से वह रहस्यात्मकता लुप्त हो गई।

दुर्भाग्यवश जिन संप्रदायों ने इस रहस्यात्मक साहित्य की सृष्टि की थी उनकी परंपरा उनके संप्रदाय के रूप में नहीं जी सकी और उनके साहित्य का लोप हो गया। पूर्वी प्रदेशों में थोड़ा बहुत वह इसलिये रक्षित रह गया कि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक वहाँ उक्त धर्ममत संगठित संप्रदाय के रूप में जीता रहा। नेपाल आदि प्रदेशों से ही कुछ अल्पमात्रा में इन रहस्यात्मक गीतों का उद्धार किया जा सका है। उत्तर भारत का धर्ममत नवीन संपर्क और नवीन प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप बराबर अपनी पुरानी परंपरा पर—कुछ अधिक दृढ़ता के साथ डटा रहा। हिमालय के पाददेश की साधना उसे अभिभूत नहीं कर सकी। यहाँ संस्कृत की और ब्राह्मणधर्म की प्रतिष्ठा बहुत बाद तक बनी रही। इस प्रकार न तो हमें इस प्रदेश के ऐसे साहित्य का ही पता लगता है जो राजरक्षित हों और न ऐसे ही साहित्य का जो संघटित संप्रदाय द्वारा सुरक्षित हों। केवल जनता की जिह्वा पर जो कुछ बचा रहा वही अनेक परिवर्तनों के बाद घट-बढ़कर क्वचित्-कदाचित् मिल जाता है।

आदिकालीन हिंदी-साहित्य के अरक्षित रह जाने की यही कहानी है। जिन पुस्तकों के आधार पर इस काल की भाषा-प्रवृत्ति का कुछ आभास पाया जा सकता है उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कुछ पुस्तकों की भाषा इतनी परिवर्तित हुई कि उसके विषय में कुछ भी विचार करना अनुचित मालूम पड़ता है। कुछ जो ठीक से सुरक्षित हुई हैं उनके आधार पर कुछ अनुमान किए जा सकते हैं। परन्तु इन पुस्तकों से काव्यरूपों का अध्ययन अधिक विश्वास के साथ किया जा सकता है।

इस काल के अपभ्रंशकाव्यों में उन सभी प्रवृत्तियों का आरंभ ही गया दिखता है जो आगे आनेवाली भाषा के प्रधान लक्षण माने जाते हैं। हमने पहले ही बताया है कि ठीक

मध्यदेश में बना कोई अपभ्रंशकाव्य नहीं मिलता। अधिकांश पुस्तकें किनारे पर स्थित प्रान्तों से ही प्राप्त हुई हैं। फिर भी ये पुस्तकें बहुत सहायक हैं। हेमचंद्र ने काव्यानुशासन में दो प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है। एक तो शिष्ट जैन की अपभ्रंशभाषा जिसका व्याकरण स्वयं हेमचंद्राचार्य ने लिखा था और जो प्रधानरूप से जैन पंडितों के हाथों सँवरती रही। यह बहुत-कुछ प्राकृत और संस्कृत की भाँति ही शिष्टभाषा बन गई थी। दूसरी ग्राम्य अपभ्रंशभाषा जो संभवतः चलती जवान थी। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह अधिक अग्रसर हुई भाषा है। संदेशरासक इसी प्रकार के अपभ्रंश में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में—अर्थात् लगभग उसी समय जब पृथ्वीराजरासो लिखा जा रहा था—रचित हुआ था। इसकी भाषा बोलचाल के अधिक नजदीक थी। यद्यपि इसके कवि अद्दहमाण या अब्दुल रहमान प्राकृत-अपभ्रंश की परंपरा के अच्छे जानकार थे और बीच-बीच में उन्होंने जो प्राकृत गाथाएँ लिखी हैं वे उनकी प्राकृत-पटुता की सूचना देती हैं फिर भी उन्होंने अपनी रचना बोलचाल के अधिक नजदीक रखने की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने नम्रता प्रकट करते हुए कहा है कि जो लोग पंडित हैं वे तो मेरे इस कुकाव्य पर कान देंगे ही नहीं और जो मूर्ख हैं—अरसिक हैं—उनका प्रवेश मूर्खता के कारण इस ग्रंथ में हो ही नहीं सकेगा, इसलिये जो न पंडित हैं, न मूर्ख हैं; बल्कि मध्यमश्रेणी के हैं उन्हीं के सामने सदा हमारी कविता पढ़ी जानी चाहिए—

एहु रहइ बुहा कुकवित्त रेसि

अबुहत्तणि अबुहह एहु पवेसि ।

जिण मुख्ण ए पंडिय मज्झयार

तिह पुरउ पढिब्बउ सव्ववार ॥

सो, यह काव्य बहुत पढ़े-लिखे लोगों के लिये न होकर ऐसे रसिकों के लिये है जो मूर्ख तो नहीं हैं पर बहुत अधिक अध्ययन भी नहीं कर सके हैं। रासो कुछ इसी ढंग की भाषा में लिखा गया होगा। यद्यपि कवि ने उस ग्रंथ में भी थोड़ी नम्रता दिखाई है पर वह प्रथापालनमात्र के लिये, नहीं तो रासोकार को अपने भाषाज्ञान पर गर्व है। उसकी भाषा में थोड़ी प्राचीनता की छौंक दी गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। सौभाग्यवश रासो के चार छंद अपभ्रंशरूप में प्राप्त हो गए हैं जिनसे मूल रासो की भाषा का कुछ अन्दाजा लग जाता है। तत्कालीन साहित्यिक भाषा के जो भी उदाहरण मिल जाते हैं उन्हें देखते हुए अनुमान किया जा सकता है कि पुरातन-प्रबंध-संग्रह में सुरक्षित छप्पयों की भाषा के आसपास ही मूल रासो की भाषा रही होगी।

पुरानी हिंदी का जो भी रूप उपलब्ध होता है वह पद्यबद्ध है। पद्य के लिये इस भाषा में कवियों को कुछ रियायती अधिकार प्राप्त हुए थे। शुरू-शुरू में यह अधिकार ठीक मात्रा में प्रयुक्त हुए थे, बाद में कई कवियों ने इस अधिकार का दुरुपयोग किया। मूल रासो की भाषा में इस अधिकार का उपयोग तो था पर दुरुपयोग नहीं था। पद्य में मात्रा ठीक रखने के लिये कवियों ने आवश्यकानुसार चार मुख्य पद्धतियों से काम लिया है (ह० भा०, पै० १६ और पै० १७)। संदेशरासक में इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। अन्य अपभ्रंशग्रंथों में भी इसकी भरमार है। ये पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं—

१. स्वार्थक प्रत्यय अ, इ, अल, इल, उल आदि के योग से—

अलंकृत का अपभ्रंश रूप 'अलंकिय' है पर छन्दोनुरोध से इसमें स्वार्थक 'अ' प्रत्यय जोड़कर 'अलंकियउ' रूप बना लिया जाता है, इसी प्रकार 'पंकित' 'पंकिय' होगा, उसे 'पंकियउ' बना लिया जा सकता है; मुक्त 'मुक्क' होगा, उसे 'मुक्कओ' बना लिया जा सकता है। स्यूलाक्षर पदों पर ध्यान दीजिए—

मयणवट्टु मिअणाहिण कस्स व पंकियउ

अन्नह भालु तुरकि तिहइ आलंकियउ (सं० रा० ४८)

इक्कु वाणु पुहुमीसजु पइं कइमासह मुक्कओ (पु० प्र० में चंद का छंद)

इसी प्रकार 'गयउ' 'चलियउ' आदि प्रयोग हैं जो परवर्ती वृजभाषा कविता में खूब मिलते हैं। यह विशेषण और संज्ञापदों में युक्त होता है—

सो जग जणमउ सो गुणमन्तउ

जे कर पर उवआर हसन्तउ (प्रा० सू०, पृ० १६०)

'इल', 'उल' 'इ' आदि स्वार्थक प्रत्यय अपभ्रंश में बहुत पहले आ गए थे, कभी-कभी एक, दो और तीन प्रत्ययों का योग भी मिलता है (बलुल्लड़ा—हेम०) और यह बात परवर्ती हिंदी रचनाओं में भी पाई जाती है 'मुखड़ा' 'जियरा' 'हियरा' 'गहेलड़ी' (रहु रहु मुगुध गहेलड़ी—कबीर) आदि में ऐसे ही स्वार्थक प्रत्यय हैं जो अधिक प्रयोग के कारण मूल शब्दों से थोड़ा विशिष्ट अर्थ ध्वनित करते हैं। शुरु-शुरु में अपभ्रंश में इनका अधिक प्रयोग पद्यगत रियायत प्राप्त करने के उद्देश्य से हुआ होगा फिर धीरे-धीरे इन शब्दों ने काव्य के सुकुमार अर्थों को वहन करनेवाले कुछ विशिष्ट अर्थ धारण किए होंगे। हेमचंद्र द्वारा उद्धृत इस दोहे में 'उल' और 'इ' दो स्वार्थक प्रत्यय बल शब्द के साथ युक्त होकर कोई विशिष्ट अर्थ नहीं बताते—

सामि सरोसु सल्लज्ज पिउ, सीमा संधिहि बासु।

पेखिखि बाहुवलुल्लड़ा, धण मेरलइ नीसासु ॥

परन्तु कबीर के इस दोहे में इस 'ड़ा' के घिसे रूप 'रा' ने कुछ अधिक सुकुमारता ला दी है—

'जियरा योंही लेहुगे बिरह तपाइ तपाइ।'

२. लघुस्वर को गुरु बनाकर छन्द-पूर्ति की योजना—

(क) दो-तीन प्रकार से यह कार्य किया जाता था। प्रथम, ह्रस्व स्वर को दीर्घ करके। हेमचंद्र ने तो यह साधारण नियम ही बना दिया था कि अपभ्रंश में ह्रस्व और दीर्घ का व्यत्यय हो सकता है। पर यह नियम पदान्त में ही होता है। 'भल्ला हुआ जो मारिआ' में दोनों ही स्थानों पर पदान्त दीर्घ है। यह बात जायसी, तुलसी और कबीर में भी मिलती है। इन कवियों ने पदान्त ह्रस्व को तो कम, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर छन्द के अन्त में आनेवाले पद के अन्तिम स्वर को दीर्घ बनाकर काम चला लिया है। खोजने पर साधारण पदान्त दीर्घ के उदाहरण भी मिल जाएंगे, पर प्रवृत्ति पादान्त में आए पद के अन्तिम ह्रस्व स्वर को दीर्घ करने की ही रही है। इसे 'पादान्त' दीर्घ की प्रथा कहा जा सकता है। 'हसब ठठाइ फुलाउब गालू' (तुलसी) में 'गालू' का अन्तिम उकार इसी नियम से दीर्घ हुआ है। इसी प्रकार 'सहि नहि सकहु हिये पर हारू'

और 'ससिमुख जबहि कहै किछु बाता' (जायसी) में पादान्त दीर्घ इसी प्रथा के चिह्न हैं। किन्तु अपभ्रंश में पदमध्य में भी दीर्घ करने के उदाहरण मिल जाते हैं (ह० भा०, पृ० १६)। 'प्रसाधन' का नियमित अपभ्रंश रूप 'पसाहन' होना चाहिए पर संदेश-रासक में इसे 'पासाहण' किया गया है—'रहसच्छलि कीरइ पासाहण' (पद १७९)। प्राकृत पिंगलसूत्र की कविताओं में छन्द के चरण के अन्तवाले (पादान्त) ह्रस्व को दीर्घ करने की प्रथा बहुत अधिक रूढ़ हो गई थी। जैसे, 'जहाँ भूत बेताल गच्छन्त गायन्त खाए कबन्धा' (पृ० १९४)। इसमें 'कबन्धा' में पादान्त दीर्घ है। पदमध्य में आनेवाले पदान्त ह्रस्व को दीर्घ करने के उदाहरण भी मिलते हैं। इसी पद्य में आगे इस प्रकार है—

कआ दुट्ट फुट्टेइ मन्था कबन्धा गच्छन्ता हसन्ता ।
तहाँ वीर हम्मरी संगाम मज्जे तुलन्ता जुलन्ता ॥

आवश्यकता पड़ने पर शब्द के मध्य (पदमध्य) स्वर को भी दीर्घ कर लेने की प्रथा दिख जाती है जैसे निम्नलिखित पद्यों में पुरिस में 'पू' और गुरु में 'रू'—

काहि पुरिस गेह मण्डणि एह सुन्दरि पेखवआ (पृ० १६५)
गुरु सइ किज्जे अ एक्का तआरेण (पृ० १५८)।

संभवतः इस प्रथा का पुराना अवशेष संस्कृत के 'पद्मावती' जैसे शब्दों में खोजा जा सकता है जिसके तौल पर 'कनकावती' 'मुग्धावती'—जैसे शब्द हिन्दी में चल पड़े। ललित-विस्तर और अन्य महायानी ग्रंथों की संस्कृत-गाथा में इस नियम के अनेक चिह्न मिल सकते हैं।

पदान्त दीर्घ पर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि मूलतः यह बात स्वार्थक 'अ' ('क' का घिसा रूप) प्रत्यय के साथ बने हुए रूप का संक्षेपित रूप है। 'तंडुल' अ—'तंडुला'। एडोल्फ का कहना है कि अपभ्रंश की स्वाभाविक प्रवृत्ति ह्रस्वान्त की है; दीर्घ तो केवल स्वार्थक प्रत्ययों के साथ बने रूप का संक्षेपित रूप है। उदाहरणार्थ, 'मंजरी' अपभ्रंश में 'मंजरि' बन जाती है। फिर स्वार्थक 'अ' प्रत्यय से युक्त होकर 'मंजरिअ' या 'मंजरिय' बनती है जो संक्षेपित होकर फिर 'मंजरी' बन जाती है। इसलिये अपभ्रंश के दीर्घान्त रूप वस्तुतः ह्रस्वान्त ही हैं !

(ख) एक दूसरा कौशल है परवर्ती वर्ण को द्वित्व करके पूर्ववर्ती लघुस्वर को संयोग-परक बनाकर गुरु बना देना। प्राकृत में ही यह प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। जैसे, 'लज्जा गरुई, परव्वसो अप्पा' (रत्नावली) में 'परव्वसो' 'परवशः' का प्राकृत रूप है। वकार के द्वित्व का कोई कारण नहीं है। केवल छन्दःसौकर्य के लिये ही यह किया गया है। संदेशरासक में 'चिरगय' (चिरगतः), 'सम्भय' (सभयः) जैसे प्रयोग बहुत हैं। प्राकृत पिंगलसूत्रों के उदाहरण में 'हयगय' (हयगज), 'परव्वश' (परवश)—जैसे प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं और हेमचंद्र का 'भमर' तो यहाँ अनायास भम्मर बन जाता है, केवल छन्दोयोजना की आवश्यकतापूर्ति का अवसर मिलना चाहिए—

गज्जउ मेह कि अम्बर सम्मर ।
फुल्लउ गीव कि बुल्लउ भम्मर ॥

इसी प्रकार,

फुल्ला णीवा वोले भम्मह

दक्खा मारुअ बीअन्ताए (पृ० १६३)

‘गर्वगत’ का ‘गव्वगअ’ होना तो स्वाभाविक है पर प्राकृत पिगलसूत्र के उदाहरण में ‘गव्वगत्त’ मिल जाता है—‘रोसरत्त गव्वगत्त हक्क दिण्ण भीषणा ।’ इसी प्रकार (पृ० १७१) ‘पदातिक’ से अपभ्रंश में ‘पाइक’ या ‘पायक’ बनता है । पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह के रासोवाले छप्पयों में से एक में इसे ‘पायक्क’ किया गया है और फलक को ‘फारक्क’—

‘बीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर’ (पृ० ५३)

इन दिनों जो रासो मिलता है उसमें तो इस नियम का अत्यधिक प्रयोग है जो दुरुपयोग की सीमा को भी पार कर गया है । उदाहरणार्थ—‘फरक्क’ ‘झड़प्पि’ ‘चल्लि’ ‘लिक्खि’ आदि में इसी परंपरा को दुरुपयोग की सीमा तक घसीटा गया है । मूल रासो में यह प्रवृत्ति बहुत स्वस्थ और संयत रूप में रही होगी । संभवतः संदेशरासक की मात्रा के आसपास ही ।

(ग) रासो में अनुस्वार देकर छंदोनिर्वाह की योजना बहुत अधिक मात्रा में है । ‘रजंत भूषणं तनं । अलक्क छुट्टयं मनं । (पृ० २११२)—जैसे छंदों में अकारण अनुस्वार ठूँसे गए हैं । एक कारण तो अनुस्वार देने का यह हो सकता है कि भाषा में संस्कृत की गमक आ जाए । परन्तु यह प्रवृत्ति सिर्फ इतने ही उद्देश्य से होती तो इतना विशाल रूप न धारण करती । वस्तुतः अपभ्रंशकाल में दो प्रकार से अनुस्वार जोड़ने के उदाहरण मिल जाते हैं—(१) मूल संस्कृत में उस पद में अनुस्वार रहा हो और छन्द की पादपूर्ति के लिये उसकी आवश्यकता अनुभव की गई हो । परवर्ती हिंदी में ‘परंब्रह्म’-जैसे शब्दों में यही प्रवृत्ति है । प्राकृत पिगलसूत्र के उदाहरणों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है—

ठवि सल्ल पहिल्लौ चमर हिहिल्लौ सल्लजुअं पुण्ण बहू ठिआ । (पृ० २१५)

में ‘सल्लजुअं’ का अनुस्वार ‘सत्ययुगं’ में आए हुए संस्कृत अनुस्वार का अवशेष है । (२) छंद में एकाध मात्रा की कमी रह गई हो और उसके लिये द्वित्ववाला विधान बहुत अच्छा नहीं दिख रहा हो जैसे ‘णायं’ (समान)—णायं तुम्भरि सज्जिउ (सं० रा० ५३) ; परन्तु यह बात अपभ्रंश-कवियों में बहुत अधिक प्रिय नहीं थी । संदेशरासक में ‘अमियं भरणो’ (३३)—जैसे प्रयोगों को बहुत दूर तक नहीं घसीटा जा सकता । ये संस्कृत-ख-प्रत्यय परक शब्दों (शुभंकर, प्रियंकर) के अनुकरण पर गढ़े गए जान पड़ते हैं । पु० प्र० के रासो-छप्पयों में एक जगह ‘खयंकर’ (अगहु म गहि-दाहिमओ (देव) रिपुराय खयंकर) प्रयोग है जो इसी प्रवृत्ति का द्योतक है ; परन्तु ‘भितरि’ (उर भितरि खड्डहडिउ धीर कक्खंतारि चुक्कउ) का अनुस्वार कुछ उसी प्रकार की भरती का मालूम होता है जिस प्रकार की भरती परवर्ती रासो में है । प्राकृत पिगलसूत्रों के उदाहरणों में भरती के अनुस्वार नहीं मिलते और इसीलिये यह मान लिया जा सकता है कि मूल रासो के छंदों में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक मात्रा में नहीं होगी । कुछ थोड़ी रही होगी, इसमें संदेह नहीं । थोड़ी मात्रा में यह प्रवृत्ति बाद में भी बनी रही । ढोला मारू रा दोहा (राति जु बादल सघणघण बीज चमंकउ होइ) में थोड़ी बहुत यह प्रवृत्ति मिल जाती है ।

३. गुरु स्वर को लघु बनाकर छंद का निर्वाह—

अपभ्रंश की रचनाओं में इसका बहुत (ह० मा० ७१७) प्रयोग मिलता है । साधारणतः तीन कौशल्यों से कवि इस प्रकार का प्रयास करता है—

(क) दीर्घ को ह्रस्व करके—ज्वाला का 'झाला' या 'जाला' होना चाहिए । अपभ्रंश की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार अन्तिम स्वर ह्रस्व हो जाए तो 'जाल' या 'झाल' बनेगा; किन्तु अपभ्रंश-कवि आवश्यकता पड़ने पर इसे 'झल' या 'जल' कर देगा । हेमचंद्र के उदाहरण दोहों में 'ज्वाला' का जाल रूप मिलता है । (सासानल जाल झलक्कियउ) और ढेला मारू रा दोहा में ज्वाला के अर्थ में 'झालि' शब्द का प्रयोग है—

झाबनि पइवी झालि सुंदर काई न सलसलइ (दो० ६०३)

लेकिन यही शब्द ह्रस्व होकर संदेशरासक में 'झल' (उल्हवइ ण केणइ विरहझल, १३७) बना है । इसी प्रकार 'नारायणः' अपभ्रंश में 'नारायणु' या 'णारायणु' होगा । परन्तु प्राकृत पिगलसूत्र के उदाहरण में उसे 'णरायणु' किया गया है—

कुल खत्तिअ कम्पे, दहमुहु कट्टे कंस अ केसि विणासकरा

करणे पअले मेच्छह विअले सो देउ 'णारायणु' 'तुम्ह बला' (पृ० २१६)

इस बात को भाषा-विज्ञान के साधारण नियमों से समझाया जा सकता है । 'नारायण' में 'रा' के आकार पर स्वराघात पड़ने से 'ना' का आकार ह्रस्व हो जाएगा । परन्तु यदि यह बात होती तो और कहीं भी अपभ्रंश में 'नारायण' रूप न मिलता । इसलिये यहाँ मैंने इसे उदाहरणरूप में उद्धृत किया है । संदेशरासक में 'सीतल' 'सीयल' का 'सियलु' रूप मिलता है (मरु-सियलुवाइ महि सीयलंतु) और पदान्त 'ओ' और 'ए' का ह्रस्व कर देने की प्रथा तो बहुत पुरानी है । हेमचंद्र के उद्धृत दोहों में ही यह बात बहुत अधिक मिल जाएगी ।

तहे मुद्धहे मुह पंकइ आवासिड सिसिरु (३५७)

निरुम रसु पिणै पिआवे जणु सेसहो दिअणी मुइ । (४०१) इत्यादि

कभी-कभी पदमध्य में भी आ जाता है । अवश्य ही, ऐसे स्थलों पर पदान्त की स्मृति खोजी जा सकती है । जैसे, "भमरा एत्थवि निबडह केवि दियहडा विलंबु ।" के 'केवि' में 'के अपि' की स्मृति खोजी जा सकती है । पु० प्र० के रासो-छप्पयों में पदान्त 'ओकार' के ह्रस्व के अनेक उदाहरण हैं—'अगहु म गहि दाहिमओ' में 'दाहिमओ' का ओकार ह्रस्व है । 'मच्छिवंधि बद्धओ मरिसि' में 'बद्धओ' का ओकार भी ऐसा ही है । परवर्ती हिन्दी-कविता में यह प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में मिल जाती है ।

(ख) संयुक्त वर्णों में से एक को ही रखकर पूर्ववर्ती स्वर को लघु बनाना—

अपभ्रंश में 'थक्कइ' (रहता है) प्रयोग मिलता है । इसीसे बंगला थाक् धातु आया है । प्राकृत पिगलसूत्र में एक सरस उदाहरण इस प्रकार है—

फुल्लिअ केसु कम्प तहँ पअलिअ मंजरि तेजिअ चूआ

दभिलण वाउ सीअ भइ पबहइ कम्प विओइणि हीआ ।

केअइ धूलि सव्व दिस पसरिअ पीअरु सव्वउ भासे

आउ बसन्त काइ सहि करिहउ कन्त ण थक्कइ पासे । (पृ० २१२)

किन्तु आवश्यकता पड़ने पर इस 'थकइ' को 'थकइ' कर लिया जा सकता था । इसी प्राकृत पिंगलसूत्र के एक उदाहरण में इस प्रकार है—

जो पुणु पर उवआर विरुज्झइ

तासु जणणि किं ण थकइ वज्झइ ॥ (पृ० १६०)

हेमचन्द्र में ही इस प्रकार के प्रयोग मिलने लगते हैं । 'विषमस्तन' का 'विषमत्थण' होना उचित था; किन्तु हेमचन्द्र के उदाहृत दोहे में 'विसम-थण' (३५०) मिलता है । अन्यत्र ऐसे ही स्थल पर 'गण्डथले' न कहकर 'गण्डत्थले' कहा है—'एक्कहि अक्खिहि सावणु अन्नहि भद्दवउ ; माहुउ महियलसत्थरि गण्डत्थले सरउ ।' (३५७)

इसी तरह 'उन्मुक्त' से अपभ्रंश रूप 'उम्मुक्क' बनेगा; पर आवश्यकता पड़ने पर अपभ्रंश का कवि 'उमुक्क' लिख सकता था ('धम्मिल उमुक्कमुह' (सं० रा० ९७) । परन्तु वही कवि मौका पड़ने पर 'उसास' लिखने में भी संकोच नहीं करेगा । हिन्दी में 'उछाह' 'भगतबछल' आदि प्रयोग इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं । छन्द का अनुरोध न होता तो ये शब्द 'उच्छाह' से आगे बढ़कर 'ऊछाह' और 'वच्छल' से आगे बढ़कर 'बाछल' बन गए होते । संदेशरासक में और प्राकृत पिंगलसूत्र के उदाहरणों में यह प्रवृत्ति काफी अधिक है । परवर्ती हिन्दी-साहित्य में तो है ही । समुद्र का 'समुद' होना चाहिए । जायसी ने 'समुद' बना दिया है—'जे एहि खीर समुद महे परे' (पृ० ६०) और 'दीठि न आव समुद और गंगा' (पृ० ६०) इत्यादि ।

(ग) एक दूसरा कौशल है अनुस्वार को ह्रस्व करने के लिये सानुनासिकमात्र रहने देना और लिखने में चन्द्रविन्दु देकर काम चला लेना । यह भी पुरानी प्रवृत्ति है । हेमचन्द्र ने एक दोहा इस प्रकार दिया है—

विपियआरउ जइवि पिउ तोवि तँ आणहि अज्जु ।

अग्गिण दट्ठा जइवि घरु तोवि तेँ अग्गि कज्जु ।

यहाँ 'तँ' के अनुस्वार को चन्द्रविन्दु में बदल दिया गया है । संदेशरासक में संपूर्ण से 'सउन्न' बनाया गया है । इसमें 'स' का अनुस्वार एकदम उड़ा दिया गया है । संभवतः यह लिपिकार का प्रमाद है । मूल में वह चन्द्रविन्दु के रूप में रहा होगा । हिन्दी में इस प्रकार अनुस्वार से चन्द्रविन्दु और फिर चन्द्रविन्दु का एकदम लुप्त हो जाना बहुत हुआ है । पर्यङ्किका—पल्लङ्गिआ-गान्गी-गान्गी-गान्गी । परवर्ती हिन्दी-काव्यों में इस कौशल से बहुत काम लिया गया है—'चँदनक चौकि बइस तहँ राजा' इत्यादि) । पु० प्र० के रासो छप्पयों में भी यह प्रवृत्ति है । शाकंभरी से सायंभरी और साइंभरी फिर सइंभरि बना है । किन्तु 'पहु पडुविराय सइंभरि धणी सयंभरि उणइ संभरिसि' में दो स्थानों पर इस अनुस्वार का हल्का करने का प्रयत्न किया गया है । प्राकृत पिंगलसूत्र के उदाहरणों में भी इस कौशल के चिह्न मिल जाते हैं—'पंचमी' को 'पँचमी' किया गया है—

‘पँचमी चउठी तिआहि मिलाउ ।’

४. एक और कौशल है शब्दों को सिकोड़ना या लंबा खींचना । दोनों ही कौशलों का आविर्भाव अपभ्रंश-रचनाओं में मिलता है और दोनों ही परवर्ती हिन्दी-कविता में प्रयुक्त हुए हैं । इन दोनों कौशलों का नाम संकोचन और संप्रसारण दिया जा सकता है ।

(क) संकोचन का कौशल ।

‘सहकार’ अपभ्रंश में ‘सहआर’ होगा । सुविधा के लिये इसे ‘साहार’ और फिर ‘सहार’ बनाया जा सकता है । दोनों ही प्रयोग संदेशरासक में मिल जाते हैं ।

(i) हउ किय णिस्साहार पहिय साहार वणि (१३४)

(ii) साहारह णाउ ण सा अंगिरह ।

इसी प्रकार मयूर से ‘मऊर’ और उससे ‘मोर’ । सं० रा० में भी यह प्रयोग मिलता है और ढोला मारू में भी—‘महि मोराँ मंडव करह मनमय अंगिन माइ ।’ इसी तरह ‘द्विगुण’ ‘दिउण’ होगा; किन्तु प्राकृत पिगलसूत्र में उसे ‘दुण्ण’ करके संकोचित किया गया है—‘कण्णो दुण्णे हार एकं। विसज्जे । सल्ला कण्णा गंध कण्णा सुणिज्जे ।’ ‘अद्धतृतीय’ ‘अड्ढीय’ बन जाता है जो आगे चलकर ‘अढाई’ से और भी संकुचित होता हुआ ‘ढाई’ बन गया है । ‘अढाई’ में का, ‘आ’ कार जिस प्रकार लप हुआ है वह प्रक्रिया भी अपभ्रंशकाल में परिचित थी । अरण्य से ‘अरण्ण’ और फिर ‘रण्ण’ हेमचन्द्र के व्याकरण में पाया जाता है ।

उपस्कर से उक्खर और उक्खर का ‘वक्खर’ संदेशरासक में मिल जाता है (मह साइय वक्खर हरि गउ तक्खर जाउ सरणि कमु पहिय भणे ९५) और रन्न तो मिल ही जाता है । (मच्छर भय सचडिउ रत्ति गोपंगणहि १४६) । इसी प्रकार और भी प्रयोग खोजे जा सकते हैं । ब्रजभाषा में ‘अरु’ का ‘रु’, अहै का ‘है’, ‘अही’ का ‘ही’ इसी के रूप हैं । जायसी ने अहा (था) का प्रयोग किया है (जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा) । इसी का स्त्रीलिंग ‘अही’ होता है और इसी अही का संक्षिप्त रूप (संकोचित रूप) ‘ही’ है ।

अपभ्रंश में संकोच की प्रवृत्ति और भी कई रूपों में रही । उपदेश का अपभ्रंश रूप ‘उवएस’ होगा, इसी का संक्षिप्त रूप ‘उवेस’ बन गया है (सरहे कहिय उवेस)—यह संकोचन का एक उदाहरण है । स्वर्णकार का ‘सुण्णआर’ अपभ्रंश रूप है जिससे संदेशरासक का ‘सुन्नार’ रूप बना है—

सुन्नारह जिह मम हियउ, पिय उक्किख करेइ ।

विरह हुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिचेइ ॥ (१०८)

पश्वर्ती हिंदी-कविता में यह प्रवृत्ति और भी बढ़ी । ‘सुन्नार’ आगे चलकर ‘सुनार’ बन गया । अपभ्रंश में ‘अइ’ या ‘अय’ जहाँ था वहाँ हिंदी में ‘ऐ’ बन गया, ‘अउ’ या ‘अव’ जहाँ था वहाँ ‘औ’ बन गया—मैन (मदन-मयन-मैन), पौन (पवन-पौन), नैन (नयन-नैन) । इसी प्रकार तुम का वाचक ‘पइ’ था जो घिसते-घिसते ‘पै’ रह गया है । जायसी ने इसका प्रयोग बहुत किया है । (माँगु माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न लेहु न देहु) । विद्वानों ने इसे ‘अपि’ वाले ‘पै’ के साथ जोड़ देने का प्रयत्न किया है ।

(ख) दूसरा कौशल संप्रसारण का है ।

ह्रस्व का दीर्घ करने के उदाहरण पहले ही दिए गए हैं और यह भी दिखाया गया है कि किस प्रकार कई स्वार्थक प्रत्ययों के योग से शब्दों को लंबा बनाया गया है । इनके अतिरिक्त भी कई कौशल हैं ।

इस प्रकार प्रायः उन सभी प्रवृत्तियों का बीजारोप इस काल की प्रामाणिक रचनाओं में मिल जाता है जो आगे चलकर भाषाकाव्य में व्यापक रूप से मिलने लगती हैं ।

तृतीय व्याख्यान

पिछले व्याख्यान में मैंने यह दिखाया है कि अपभ्रंश या देशभाषा की ऐसी रचनाएँ जिनका निर्माण आज के हिंदीभाषी क्षेत्रों में हुआ था, प्रायः नहीं मिलती। जो मिलती भी हैं वे अपने मूल अविकृत रूप में नहीं मिलती। अपभ्रंश के जिन चरितकाव्यों की चर्चा पहले की गई है वे अधिकांश जैन-परंपरा से प्राप्त हुए हैं और हिंदी-भाषी क्षेत्रों के बाहर लिखे गए हैं। वे इस बात की सूचना देते हैं कि इस काल में जैन-परम्परा में भी प्रचुर काव्य-साहित्य लिखा गया था। नाना ऐतिहासिक कारणों से ये रचनाएँ सुरक्षित नहीं रह सकीं। एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना 'पृथ्वीराजरासो' है। किसी समय यह ग्रंथ बहुत प्रामाणिक माना गया था और पृथ्वीराज-विषयक इतिहास के लिये प्रामाणिक स्रोत समझा गया था। बंगाल की एसियाटिक सोसायटी ने इसका प्रकाशन भी आरंभ कर दिया था। लेकिन उन्हीं दिनों डा० बूलर ग्रंथानुसंधान के लिये काश्मीर गए और वहाँ उन्हें 'पृथ्वीराज-विजय' की एक खंडित प्रति मिली। यह सन् १८७६ ई० की बात है। डा० बूलर को पृथ्वीराजविजय अधिक प्रामाणिक ग्रंथ मालूम हुआ और उन्होंने सोसायटी को एक पत्र लिखकर (१८९३ की प्रोसीडिंग्स देखिए) पृथ्वीराजरासो का मुद्रण बंद करा दिया। बाद में इस विशाल ग्रंथ को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया। किन्तु तभी से विद्वानों के मन में रासो की उपादेयता के संबंध में शंका उत्पन्न हो गई। डा० बूलर ने अपने पत्र में रासो की इतिहास-विरुद्धता की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। उनका विश्वास था कि पृथ्वीराजविजय में लिखी घटनाएँ सन् ९७३ ई० से सन् ११६८ ई० तक की प्रशस्तियों और शिलालेखों से मिलती हैं। पृथ्वीराजविजय के अनुसार पृथ्वीराज सोमेश्वर और उसकी रानी कर्पूर देवी के पुत्र थे। कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या थीं। पृथ्वीराज को बाल्यावस्था में ही सिंहासन मिला था और राज्य का संचालन उनकी माता कर्पूर देवी कदम्बवास नामक मंत्री की सहायता से करती थीं। कदम्बवास रासो का प्रतापी मंत्री 'कैमास' है। परन्तु पृथ्वीराजरासो के अनुसार पृथ्वीराज अनंगपाल की पुत्री से उत्पन्न हुए थे और दत्तक भी थे। पृथ्वीराज के लेखों से पृथ्वीराजविजय का ही समर्थन होता है। पृथ्वीराज के अत्यन्त अभिन्न मित्र माने जानेवाले कवि का यह आरंभ ही इतना गलत हो—यह बात समझ में नहीं आती।

वाद में लोगों ने और भी तरह-तरह की ऐतिहासिक गलतियाँ दिखाईं। रासो के प्रति एक प्रकार का साहित्यिक 'मोह' रखनेवाले विद्वानों को इस बात से कण्ट हुआ। उन्होंने नाना युक्तियों से उसे ऐतिहासिक सिद्ध करने का प्रयत्न शुरू किया। एक आनंद संवत् की बेवुनियादी कल्पना को सहायक बनाया गया। पर रासो वर्तमान रूप में इसमी इतिहास-विरुद्ध घटनाओं का भोजाल है कि उसे किसी भी युवित से इतिहास के अनुकूल नहीं सिद्ध किया जा सकता। अब यह निश्चित रूप से विश्वास किया जाने लगा है कि मूल रासो में बहुत अधिक प्रक्षेप होता रहा है और अब यह निर्णय कर सकना कठिन है कि मूल रासो कैसा था। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् म० म० वं० गौरीशंकर ओझाजी ने निश्चित प्रमाणों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि रासो का वर्तमान रूप स० १५१७ और १७३२ के बीच किसी समय में प्राप्त हुआ था। अर्थात् वर्तमान रासो का अन्तिम रूप से संकलन-संपादन सत्रहवीं शताब्दी के आसपास हुआ है। इधर जब से मुनि-जिनविजयजी ने 'पुरातनप्रबंध-संग्रह' में प्राप्त चार छप्पयों की ओर पंडितों का ध्यान आकृष्ट किया है तब से मूल रासो में प्रक्षेपवाले सिद्धान्त की पुष्टि हो गई है। ये छप्पय प्रायः अपभ्रंश में हैं। वर्तमान रासो में ये विकृत रूप में प्राप्त होते हैं। हम आगेवाले व्याख्यान में इनको उद्धृत करने जा रहे हैं। यहाँ केवल इतना कहना उचित जान पड़ता है कि इन छप्पयों से पृथ्वीराजविजय का भी विरोध नहीं है और रासो में तो ये मिलते ही हैं। इनमें पृथ्वीराज-विजयवाले प्रसिद्ध मंत्री 'कदम्बवास' (कडमास) की पृथ्वीराज द्वारा की हुई हत्या की चर्चा है। इसलिये इनमें अनैतिहासिक तत्त्व नहीं है। भाषा इनकी अपभ्रंश है और इस तथ्य से यह अनुमान पुष्ट होता है कि रासो भी कुछ उसी प्रकार के अपभ्रंश में लिखा गया था जिस प्रकार के अपभ्रंश में ग्यारहवीं शताब्दीवाला दमोहवाला शिलालेख (जिसकी चर्चा प्रथम व्याख्यान में की गई है) लिखा गया था।

अब यह मान लेने में किसी को आपत्ति नहीं है कि रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। उसमें बहुत अधिक प्रक्षेप होने से उसका रूप विकृत जरूर हो गया है; पर इस विशाल ग्रन्थ में कुछ सार भी अवश्य है। इसका मूल रूप निश्चय ही साहित्य और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा। परन्तु जबतक कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति नहीं मिल जाती तबतक उसके विषय में कुछ कहना कठिन ही होगा। फिर भी मेरा अनुमान है कि उस युग की काव्य-प्रवृत्तियों और काव्यरूपों के अध्ययन से हम रासो के मूलरूप का संधान पा सकते हैं। परिश्रम करके यदि हम उस रूप का कुछ आभास पा जायें तो उसकी साहित्यिक महिमा और काव्य-सौंदर्य की किंचित् भलक पा सकेंगे; परन्तु भाषा का प्रश्न फिर भी विवादस्पद रह जाएगा। पुरातनप्रबंधवाली परंपरा को विश्वास-योग्य मानें तो वह भाषा अपभ्रंश ही थी जो उस युग की प्रवृत्तियों को देखते हुए ठीक ही मालूम देती है। परन्तु उसे मानने में थोड़ी हिचकिचाहट हो भी सकती है। जैन-ग्रंथकार अपभ्रंश भाषा के विषय में जरूरत से कहीं ज्यादा सावधान रहे हैं। जिस प्रकार तुलसीदास की रामायणवाली भाषा को उत्साही ब्राह्मण पंडितों के हाथ शुद्ध होकर संस्कृतानुयायी बनना पड़ा है उसी प्रकार संभव है कि चंद की देशमिश्रित अपभ्रंश (जो कीर्तिलता के अवहट्ट के समान भी हो सकती है) उत्साही जैन मुनियों के हाथ कुछ

शुद्ध बनकर विशुद्ध अपभ्रंश बन गई हो। यह संभावना हो सकती है। हमें उस ओर से श्रावधान होना होगा। इसीलिये मैं भाषा की दृष्टि से इस प्रश्न पर अभी विचार करने योग्य स्थिति में नहीं हूँ। साहित्यिक दृष्टि से यदि कुछ हाथ लग जाय तो वह भी कम लाभ नहीं है। 'अर्थ तर्जहि बुध सरवस जाता !'

भिन्न-भिन्न विद्वानों के परिश्रम से अबतक रासो के चार रूप उपलब्ध हुए हैं। इनमें सबसे बड़ा तो काशी-नागरी-प्रचारिणी मण्डल की संस्कृत-रासो की उदयपुर-शाली प्रति के आधार पर संपादित हुआ था (२) ओरियेंटल कालेज, लाहौर की एक प्रति है जिसको पं० मथुराप्रसाददीक्षितजी असली रासो मानते हैं। इसकी एक प्रति बीकानेर के बड़े उपासरे के जैनज्ञानभाण्डार में है एक अयोधुर के साहित्यसदन में है और एक श्री अगरचंद नाहटा के पास है। दीक्षितजी कहते हैं कि रासो के 'सत्त सहस' का अर्थ सात हजार है और इस दूसरे रूपान्तर की श्लोकसंख्या आर्या के हिसाब से लगभग सात हजार है भी। इस रूपान्तर की सभी प्रतियाँ संवत् १७०० के बाद की बताई जाती हैं। तीसरा लघुरूपान्तर है जिसकी तीन प्रतियाँ तो बीकानेर-राज्य के अनूप-संस्कृत-मुस्तकालय में तथा एक श्री अगरचंद नाहटा के पास है। इसकी एक प्रति सत्रहवीं शताब्दी की है। नाहटाजीवाली प्रति सं० १७२८ की है और बाकी दो में संवत् नहीं दिया गया है; पर अन्दाज से उनका भी समय इसी के आसपास कूता गया है। चौथा एक लघुतम संस्करण है जिसे राजस्थानी साहित्य के परिश्रमी अन्वेषक श्री अगरचंदजी नाहटा ने खोज निकाला है। इसका लिपिकाल सं० १६६७ है।^१ यह दावा किया जाने लगा है कि लघुतम रूपान्तर ही मूल रासो है। परन्तु इतिहास की जिन गलतियों से बचने के लिये बड़े रासो को अप्रामाणिक और छोटे रासो को प्रामाणिक बताया जाता है उनमें से कुछ-न-कुछ छोटी प्रतियों में भी रह ही जाती है। वस्तुतः कई भिन्न-भिन्न उद्धारकों ने चंद के मूल ग्रंथ का उद्धार किया था। सभी संस्करण परवर्ती हैं, सबमें श्लोक की संभावना बनी हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर एक भी प्रति प्रामाणिक नहीं ठहरती।^२

इधर उदयपुर के कविराव मोहन सिंह ने रासो की ऐतिहासिक प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये एक दूसरा ही उपाय सुझाया है।^३ उनका कहना है कि रासोकार ने अपने द्वारा प्रयुक्त छंदों की जाति के बारे में स्वयं ही लिखा है कि—

छंद, प्रबंध कवित्त यत्ति, साटक गाह दुहत्थ ।

लघु गुरु मंडित खंडि यह, पिंगल अमर भरत्थ ॥

अर्थात् (मेरे प्रबंधकाव्य रासो में) कवित्त (पदपदी), साटक (शार्दूलविक्रीडित), गाहा (गाथा) और दोहा नामक वृत्त प्रयुक्त हुए हैं जिनमें मात्रादि-नियम पिंगलाचार्य के अनुसार हैं और संस्कृत (अमरवाणी) के छंद भरत के मतानुक्ल हैं।

१. डा० उदयनारायण तिवारी : वीरकाव्य, पृ० १०८-१११

२. रासो की ऐतिहासिक आलोचना के सारांश के लिये देखिए, वीरकाव्य, पृ० ११४-१५३

३. राजस्थानभारती, भाग १, अंक २-३, जुलाई-अक्टूबर १९४६ : पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता पर पुनर्विचार

इस प्रकार, कविरावजी का मत है कि, यही चार छंद रासो के मूल छंद हैं। बाकी सभी प्रक्षिप्त हैं। यह विश्वास किया जा रहा है कि, इस बात को स्वीकार कर लेने पर, रासो की ऐतिहासिकता पर आँच नहीं आएगी। कविरावजी का लेख अभी राजस्थान-भारती में छप रहा है। जब वह पूरा प्रकाशित हो जाएगा तो उसपर पंडितों की बहस शुरू होगी। अभी यहाँ उस झगड़े में पड़े बिना भी हम आसानी से समझ सकते हैं कि ये चार छंद यदि रासो के मूल छंद हों भी तो यह मानने में काफी कठिनाई बनी रहेगी कि प्रक्षेप करनेवालों ने इन छन्दों में रचना करके कुछ प्रक्षेप किया ही नहीं होगा। ये छंद अपभ्रंश के बहुत पुराने और परिचित छंद हैं, प्रक्षेप करनेवालों ने इन छंदों का भी उपयोग किया हो होगा और बाकी छंदों को रासो से निकाल भी दें तो प्रक्षेप की समस्या हल नहीं हो जाएगी। रासो के कुछ अशुद्ध बताए जानेवाले संवत् दोहा और छप्पय छंदों में ही हैं। दोहा-जैसे छंद को प्रक्षेप करनेवाले कैसे भूल सकते हैं। दोहा तो अपभ्रंश का अत्यन्त लाड़ला छंद है। अपभ्रंश-रचना को दोहाबंध कहने की प्रथा भी रूढ़ हो गई थी। और फिर पद्धडियाबंध भी उन दिनों की कथाओं की विशिष्ट पद्धति बन गया था। यह भी कैसे मान लें कि पद्धडिया को चंद-जैसे कवि ने अपने काव्य का छंद चुना ही नहीं होगा। लेकिन जैसा कि मैंने अभी कहा है, इस विवाद में पड़ना व्यर्थ है। रासो में इतिहास की संगति खोजने का प्रयास ही बेकार है। हम आगे इस बात पर विस्तारपूर्वक विचार करने का अवसर पाएँगे।

एक ध्यान देने योग्य मजेदार बात यह है कि प्रायः सभी चरितकाव्यों ने अपने को 'कथा' कहा है। पुराने साहित्य में कथा शब्द का व्यवहार स्पष्टरूप से दो अर्थों में हुआ है। एक तो साधारण कहानी के अर्थ में और दूसरा अलंकृत काव्यरूप के अर्थ में। साधारण

न अलंकृत गद्यकाव्य के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। दण्डी तो स्वयं इस प्रकार के अलंकृत गद्य के लेखक भी हैं। उनके बहुत पहले से ही अलंकृत गद्यकाव्य लिखे जाने लगे थे। महाकवि पद्मनाभ ने अपने को गद्य-पद्य और अलंकार का ज्ञाता ही नहीं कहा है, उनके द्वारा खुदवाया हुआ गिरनारवाला शिलालेख स्वयं ही गद्यकाव्य का एक अच्छा नमूना है। इसलिये इतना तो निश्चित है कि अलंकृत गद्य लिखने की प्रथा बहुत पहले से विद्यमान थी। भामह और दण्डी ने लक्ष्य को देखकर ही लक्षण बनाए होंगे। उनके अपने वक्तव्यों से ही स्पष्ट है कि वे प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में लिखे गए काव्यों से परिचित थे। प्राकृत के अत्यन्त महत्वपूर्ण कथाकाव्य को वे कैसे भूल सकते थे! इस लिये कथा का लक्षण लिखते समय उनके सामने प्राकृत और संस्कृत की कथा-पुस्तकें अवश्य वर्तमान थीं। चरितकाव्य को कथा कहने की प्रणाली बहुत बाद तक चलती रही तुलसीदासजी का रामचरितमानस 'चरित' तो है ही, कथा भी है। उन्होंने कई बाइसे कथा कहा है। विद्यापति ने अपनी छोटी-सी पुस्तक कीर्तिलता को 'काहाणी' य

कहानी (कथानिका) कहा है—‘पुरिस काहाणी हउँ कहउँ’। रासो में भी कई बार उस काव्य को ‘कीर्तिकथा’ कहा गया है।^१ इस प्रकार यह ‘कथा’ शब्द बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। कुछ थोड़े से सामान्य लक्षण इन काव्यों में अवश्य एक-से रहते होंगे। उनपर विचार किया जाना चाहिए।

संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों ने ‘कथा’ शब्द का प्रयोग एक निश्चित काव्य-रूप के अर्थ में किया है। संस्कृत की ‘कथा’ गद्य में लिखी जाती थी। एक इसी श्रेणी की गद्यबद्ध रचना और भी होती थी जिसे आख्यायिका कहते थे। भामह ने काव्यालंकार (१।२५-२८) में सुन्दर गद्य में लिखी सरस कहानीवाली रचना को आख्यायिका कहा है। यह उच्छ्वासों में विभक्त होती थी और इसका कहनेवाला और कोई नहीं, स्वयं नायक होता था। इसमें बीच-बीच में वक्त्र और अपवक्त्र छन्द आ जाते थे। इसमें कन्या-हरण, युद्ध, विरोध और अन्त में नायक की विजय का उल्लेख भी होता था। ‘कथा’ इससे थोड़ा भिन्न हुआ करती थी। उसमें वक्त्र और अपवक्त्र छन्द नहीं होते थे और न उसका विभाजन ही उच्छ्वास-संज्ञक अध्यायों में हुआ करता था। इसकी कहानी स्वयं नायक नहीं कहा करता था; बल्कि किन्हीं दो व्यक्तियों की बातचीत के रूप में कह दी जाती थी। उसके लिये भाषा का कोई बन्धेज नहीं था। भामह के इस कथन को ही मानो सामने रखकर दण्डी ने ‘काव्यादर्श’ (१।२३-२८) में कहा था कि कथा और आख्यायिका वस्तुतः एक ही श्रेणी की रचनाएँ हैं; क्योंकि कहानी नायक कहे या कोई और कहे, अध्याय का विभाजन हो या न हो, अध्यायों का नाम उच्छ्वास रखा जाय या लम्ब रखा जाय, बीच में वक्त्र या अपवक्त्र छन्द आते हों या न आते हों, इससे कहानी में क्या अन्तर आ जाता है? इसलिए इन ऊपरी भेदों के कारण ‘कथा’ और ‘आख्यायिका’ में अन्तर नहीं करना चाहिए।* दण्डी का यह कथन संकेतपूर्ण है। हम आगे इस संकेत को समझने का प्रयास करेंगे।

१. रासो में कई जगह ‘कथा’ कहने की बात आई है। परन्तु आरंभिक पद्यों में एक प्राकृत की गाथा आई है, जिसका उल्लेख इसी व्याख्यान में आगे किया जा रहा है। उसमें ‘कित्तो कहो आदि अन्ताई’ पाठ है। गाथा प्राकृत में लिखी गई होगी। उसमें ‘बुत्त’ या उक्त पहले ही आ चुका है, इसलिये फिर से ‘कहो’ की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। जान पड़ता है, यहाँ मूलरूप में ‘कहो’ नहीं, ‘कहा’ था। इस प्रकार मूलरूप इस प्रकार रहा होगा—‘दिल्ली ईस गुणाणं कित्तिकहा आदि अन्ताणं।’

* अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा ।

इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥

नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।

स्वगुणाविक्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥

अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात् ।

अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम् ॥

वक्त्रं चापवक्त्रं च सोच्छ्वासं चापि भेदकम् ।

चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वपि ॥

यद्यपि दण्डी ने भामह की बात को इस तर्क से काट दिया है तथापि भामह की बातों में एक प्रकार की सचाई है। भामह ने अपने समय में संस्कृत-गद्य में लिखी जानेवाली कथाओं के साथ प्राकृत और अपभ्रंश में लिखी जानेवाली कथाओं का भी देखा था। उनमें बहुत पूर्व बृहत्कथा रच्यत हो चुकी थी। संस्कृत-कथा के तीन प्राचीन और प्रौढ़ लेखक—दण्डी, सुबाहु और वाणभट्ट—अपनी कथावस्तु के लिए बृहत्कथा के ऋणी हैं। काव्यालंकार के लेखक रुद्रट (लगभग नवीं शताब्दी) ने लिखा है कि केवल संस्कृत में निबद्ध कथाओं के लिये गद्य में लिखने का बन्धन है; परन्तु अन्य भाषाओं में लिखी जानेवाली रचनाएँ पद्य में भी लिखी जा सकती हैं। यहाँ 'अन्य भाषाओं' से प्राकृत और अपभ्रंश की ओर इशारा है। नमिसाधु ने तो अपनी टीका में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'अन्येन प्राकृतादिभाषान्तरेण तु अगद्येन गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात्'। अर्थात् 'दूसरी भाषाओं' का अर्थ है प्राकृत आदि भाषाएँ; उनमें अगद्य में अर्थात् गाथाओं में कथा लिखी जानी चाहिये। इस प्रकार भामह और रुद्रट के बताए हुए कथालक्षणों से स्पष्ट होता है कि 'कथा' संस्कृत से भिन्न भाषाओं में पद्य में भी लिखी जाती थी। प्राकृत और अपभ्रंश में उन दिनों निश्चय ही पद्य में लिखा हुआ ऐसा साहित्य वर्तमान था जिन्हें 'कथा' कहा जाता था। प्राकृत में लिखी कथाएँ पद्यवद्ध भी होती थी और 'गद्य' में भी लिखी जाती थीं। बृहत्कथा के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप में कहना कठिन है कि यह गद्य में लिखी गई थी या पद्य में, परन्तु 'वसुदेव-हिण्डि' नामक गद्य-निबद्ध प्राचीन प्राकृत कथा उपलब्ध हुई है जो यह सूचित करने के लिये पर्याप्त है कि प्राकृत में गद्य-वद्ध कथाएँ अवश्य लिखी जाती थीं। सौभाग्यवश कुछ प्राकृत पद्यवद्ध कथाएँ भी उपलब्ध हुई हैं और प्रकाशित भी हुई हैं।

प्राकृत में लिखी हुई सबसे पुरानी कथा तो गुणादय की बृहत्कथा ही है। भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि यह अमूल्य निधि आज अपने मूलरूप में प्राप्त नहीं है। सन् ईसवी की आठवीं-नवीं शताब्दी के साहित्य से पता चलता है कि उस समय तक यह कथा प्राप्य थी। यहाँ तक कि लगभग ८७५ ई० में कम्बोडिया की एक संस्कृत-प्रशस्ति में भी गुणादय और उनकी बृहत्कथा की चर्चा आई है। यह ग्रन्थ पेशाची प्राकृत में लिखा गया था। इसके निर्माण की कहानी बड़ी मनोरंजक है। गुणादय पंडित महाराज सातवाहन के सभापण्डित थे। ये महाराज सातवाहन भी उदयन, विक्रमादित्य (साहसाङ्क) की भाँति दर्जनों निजन्धरी कहानियों के नायक हैं। उदयन और विक्रमादित्य की भाँति ये भी ऐतिहासिक पुरुष थे। सातवाहन राजाओं ने दीर्घकाल तक दक्षिण में राज्य किया था। सिक्कों पर उनके 'साड' 'सात' आदि नाम प्राप्त हुए हैं। पंडितों ने अनुमान किया है कि 'हान' वस्तुतः 'साड' शब्द का ही प्राकृत रूप है। वर्ण-परिवर्तन के आधार पर निश्चित किया हुआ यह सिद्धान्त सही हो भी सकता है और

आर्यादिवत्प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः ।

भेदश्च दृष्टो लंभादिरुच्छ्वासोवास्तु किं ततः ॥

तत्कथारुपायिकेत्येव जातिः संज्ञाद्वयाकिता ।

अत्रैवाविर्भव्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥

नहीं भी हो सकता है। परन्तु इतना सत्य है कि 'हाल' प्राकृत-साहित्य के उसी प्रकार पुरस्कर्ता थे जिस प्रकार विक्रमादित्य संस्कृत-साहित्य के। ब्राह्मण-साहित्य में अपने प्राकृत-प्रेम के कारण इन्हें कई बार उपहास का पात्र बनना पड़ा है। हम अभी जिस मनोरंजक कहानी की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करने जा रहे हैं वह ऐसे ही उपहास का द्योतक है।

'हाल' की 'सत्तसई' प्राकृत-कविताओं का अपूर्व संग्रह है। शताब्दियों से वह पण्डितों का कण्ठहार बनी हुई है। इसके कोई एक दर्जन रूप हमें परम्पराक्रम से प्राप्त हुए हैं। विशेषज्ञों ने सब रूपों के अध्ययन के बाद दिखाया है कि सात सौ में लगभग चार सौ गाथाएँ पुरानी हैं। बाकी परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुई हैं। इस पुस्तक का मूल नाम 'गाथाकोश' था। एक गाथा के अनुसार कवि-वत्सल 'हाल' ने एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर इन सात सौ पद्यों का संग्रह किया था। एक मजेदार कहानी में तो यह भी कहा गया है कि सरस्वती के वरदान से 'हाल' के राज्य का प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक दिन के लिये कवि हो गया था और सबने अपनी कविताएँ 'हाल' को दी थीं। उन्हीं में से चुनी हुई कविताओं का संग्रह 'सत्तसई' है। इसमें तो कोई शक नहीं कि 'हाल' प्राकृत-साहित्य के पृष्ठपोषक थे। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में तो इस अनुश्रुति का भी उल्लेख किया है कि सातवाहन ने अपने अन्तःपुर में केवल प्राकृत बोलने का ही नियम बना दिया था। यह सातवाहन और हाल एक ही व्यक्ति होंगे। ऐसा प्राकृत-प्रेमी राजा प्राकृत में निबद्ध प्रेम-गाथाओं का नायक हो, यह बिल्कुल स्वाभाविक ही है और शायद यह भी स्वाभाविक ही है कि ऐसे प्राकृत-प्रेमी राजा को संस्कृत से अनभिज्ञ बताकर उपहास का पात्र बनाया जाय।

सो, एक बार यही राजा सातवाहन जलक्रीड़ा करते समय संस्कृत की अनभिज्ञता के कारण लज्जित हुए और यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि जबतक धारावाहिक रूप से संस्कृत लिखने-बोलने नहीं लगेंगे तबतक बाहर मुँह नहीं दिखायेंगे। राज-काज बन्द हो गया, गुणाढ्य पंडित बुलाए गए। उन्होंने ६ वर्ष में संस्कृत सिखा देने की प्रतिज्ञा की, पर एक दूसरे पंडित ने ६ महीने में ही इस असाध्य-साधन का व्रत ले लिया। गुणाढ्य के मत से यह असंभव बात थी। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि यदि कोई ६ महीने में संस्कृत सिखा देगा तो वह संस्कृत में लिखना-बोलना ही बन्द कर देंगे। ६ महीने बाद राजा तो सचमुच ही धारावाहिक रूप से संस्कृत बोलने लगे; पर गुणाढ्य पंडित को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मौन होकर पिशाचों की बस्ती में जाना पड़ा। उनके दो शिष्य उनके साथ हो लिए। वहीं किसी गंधर्व से जो शापवश पिशाच हो गया था, कहानी सुनकर गुणाढ्य पंडित ने इस विशाल ग्रन्थ को पैंशाची भाषा में लिखा था। कागज का काम सूखे चमड़ों से लिया गया और स्याही का काम पशुओं के रक्त से। पिशाचों की बस्ती में और मिल ही क्या सकता था। कथा जब पूरी हुई तो गुणाढ्य पंडित शिष्यों सहित फिर राजधानी लौट आए। स्वयं तो वे नगर के उपकण्ठ में ही ठहर गए, पर ग्रन्थ को शिष्यों के हाथ राजा के पास भिजवा दिया। राजा ने सब जान-सुनकर कहा कि भला जिस पुस्तक की भाषा पैंशाची हो, स्याही रक्त हो, लेखक मौन और मत्त हो, उसकी कथावस्तु में विचारने योग्य हो ही क्या सकता है—

पेशाची वाग् मपी रक्तं मौनोन्मत्तश्च लेखकः ।

इति राजाऽववीत् का वा वस्तुसारविचारणा ॥

(बृहत्कथामंजरी १।८७)

गुणाद्य पंडित ने जो सुना तो व्यथित होकर पुस्तक जला देने की ठानी । शिष्यों के आग्रह पर उन्होंने एक बार कथा सुना देने का अनुग्रह किया । आग जला दी गई, पंडित आसन बांधकर बैठ गए, एक-एक पन्ना पढ़कर आग में जला दिया जाने लगा । कथा इतनी मधुर और मोहक थी कि पशु-पक्षी, मृग और व्याघ्र खाना-पीना छोड़कर, वर बिसारकर सुनने लगे । उनके मांस सूख गए । जब राजा की रुग्धनशाला में ऐसे ही पशुओं का मांस पहुँचा तो शुष्क मांस के भक्षण से राजा के पेट में दर्द हुआ । वैद्य ने नाड़ी देखकर रोग का निदान किया, बंधकों से कैफियत तलब की गई और इस प्रकार अज्ञात पंडित के कथावाचन की मनोहारिता राजा के कानों में पहुँची । परन्तु जबतक आश्चर्य-चकित राजा वहाँ उपस्थित होते हैं तबतक ग्रन्थ के सात भागों में छः भाग जल चुके थे । राजा की प्रार्थना पर सिर्फ एक ही भाग बच सका । उसी बचे भाग की कथा हमारे पास मूलरूप में तो नहीं आ सकी; परन्तु संस्कृत-अनुवाद के रूप में आज भी उपलब्ध है ही । बुद्धस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' और सोमदेव के 'कथासरित्सागर' में बृहत्कथा के उस अवशिष्ट अंश की कहानियाँ संगृहीत हैं ।

इनमें पहला ग्रन्थ नैपाल के और बाकी कश्मीर के पंडितों की रचना है । यह तो नहीं पता चलता कि गुणाद्य ने मूल कहानी गद्य में लिखी थी या पद्य में । श्लोकसंग्रह से जान पड़ता है कि वह पद्य में ही लिखी गई होगी, पर कथा की परवर्ती परिभाषाओं को देखकर बहुतेरे पंडित उसे गद्य में लिखी बताते हैं । वैसे तो यह विवाद तबतक चलता रहेगा जबतक सौभाग्यवश मूलग्रन्थ की कोई प्रति न मिल जाय । किन्तु मैं अपना यह विश्वास प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मूलकथा पद्यबद्ध थी और वहीं से प्राकृत भाषा या लोक-भाषा में पद्यबद्ध कथाओं के लिखने की परम्परा शुरू होती है ।

रुद्रट ने कथा या महाकथा के लिये जो लक्षण बताए हैं वे वस्तुतः उस समय की प्राकृत या अपभ्रंश कथाओं को देखकर ही लिखे गए होंगे । साधारणतः लक्ष्य को देखकर ही लक्षण बनाने का नियम है । रुद्रट के अनुसार कथा के आरम्भ में देवता या गुरु की वंदना होनी चाहिए, फिर ग्रन्थकार का अपना और अपने कुल का परिचय दिया जाना चाहिए और उसके बाद कथा लिखने का उद्देश्य वर्णन करना चाहिए । शुरू में एक कथान्तर होना चाहिए जो प्रधान कहानी का प्रस्ताव कर सके । सरस वर्णनों से संजीवित कथाप्राप्ति ही इसका प्रधान प्रतिपाद्य होना चाहिए ।^१ रुद्रट से कुछ पूर्व की लिखी

१. श्लोकैर्महाकथायामिष्टान् देवान् गुरुन्ममस्कृत्य ।

संचेपेण निजं कुलमभिदध्यास्त्वं च कर्तृत्वा ॥

सानुप्राप्तेन ततो लघ्वक्षरेण गद्येन ।

रचयेत् कथाशरीरं पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीन् ॥

कौतूहल कवि की 'लीलावती' नामक कथा प्राप्त हुई है जो ह-वह इन लक्षणों से मिलती है । भामह ने जो इशारा किया था कि कथा में उच्छ्वास आदि के रूप में अध्यायों का विभाजन नहीं होता वह इस कथा में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । कथा का कहनेवाला यहाँ नायक नहीं है । यह कवि और कवि-पत्नी की बातचीत के रूप में कही गई है । इस प्रकार दो व्यक्तियों की बातचीत के रूप में कथा कहने की प्रथा इस देश में बहुत पुरानी है ।

भामह ने जब कथा और आख्यायिका में यह भेद किया था कि एक तो दूसरों की बातचीत के रूप में कही जानी चाहिए और दूसरी स्वयं नायक के द्वारा, तो उन्होंने संभवतः यह बताना चाहा था कि कथा में कल्पना की गुंजायश अधिक होती है और आख्यायिका में कम । एक की कहानी काल्पनिक होती है और दूसरी की ऐतिहासिक । परवर्ती आलंकारिकों ने कादम्बरी को 'कथा' कहा है और हर्षचरित को 'आख्यायिका' । काल्पनिक कहानी में संभावना पर बल दिया जाता है और ऐतिहासिक कहानी में नायक के वास्तविक जीवन में घटित तथ्य की अंर । शुद्ध-शुरू में काल्पनिक और ऐतिहासिक कहानियों के इस भेद को लक्ष्य किया गया होगा । भामह के कथन से ऐसा अनुमान होता है । ऐसा लगता है कि वे कहना चाहते हैं कि कथा प्रधानरूप से ऐसी कहानी है जिसमें कहानीपन अधिक है । कथावस्तु की संघटना, पात्रों के भावों के उतार-चढ़ाव, कथावस्तु और चरित्र-चित्रण को एक दूसरे को गति देते रहने का गुण और, सबसे बढ़कर, रस का उत्तम परिपाक इसका मुख्य लक्ष्य था । आख्यायिका में नायक की स्वयं देखी-सुनी घटनाओं की प्रचुरता के कारण कवि को कल्पना द्वारा देखने का यथेच्छ अवकाश नहीं रह सकता । वह कथावस्तु को पात्रों के भीतरी गुणों के साथ इस प्रकार नहीं गूँथ सकता कि वे एक दूसरे को धक्का मार-मारके उसके (कवि के) अभिलषित लक्ष्य तक ले जा सकें । बहुत-सी असंभव दीखनेवाली बातों का होना रस-परिपाक में बाधक होता है । पुरानी कथाओं में कथानक-रूढ़ि के रूप में बहुत-सी अनहोनी बातें आ गई हैं । कथा के लेखकों ने उनको संभव बनाने के लिए कुछ संभावनाओं का सहारा लिया था जो आगे चलकर कथानक-संबंधी अभिप्रायों का कारण बन गई । इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे । यहाँ प्रकृत यही है कि कल्पनामूलक कथाओं का दो व्यक्तियों की बातचीत के रूप में कहना कुछ अप्रत्यक्ष-सा होता है और कवि का उत्तरदायित्व कम हो जाता है । आख्यायिका में यह सुविधा नहीं रहती; परन्तु भामह के ऊपर किए हुए दण्डी के आक्षेपों को देखते हुए यह निश्चित रूप से समझा जा सकता है कि ऐतिहासिक और काल्पनिक कथाओं के इस भेद को बहुत ही शीघ्र भुला दिया गया । यह जो दो व्यक्तियों के बीच बातचीत के रूप में कथा कहने की पद्धति है वह इस देश की बहुत पुरानी प्रथा है । महाभारत में इसी प्रकार पूर्वकथा कहकर श्रोता-वक्ता की योजना की गई है । यद्यपि आदिकाव्य रामायण में श्रोता-वक्ता की योजना नहीं है तथापि पूर्वकथा

आदौ कथान्तरं वा तस्यां न्यस्येत् प्रपञ्चितं सम्यक् ।

लघु तावत् संधानं प्रक्रान्तकथावताराय ॥

कन्यालाभफलां वा सम्यग् विन्यस्य सकलशृंगारम् ।

इति संस्कृतेन कुर्यात् कथामगधेन चान्येन ॥

उसमें भी है। लौकिक कथाओं में यह प्रथा शुरू-शुरू में संभवतः इसलिये व्यवहृत हुई थी कि कथा में असंभव समझी जाने योग्य बातों को पर-प्रत्यक्ष बताकर उसकी असंभाव्यता की मात्रा कम कर दी जाए। हमने ऊपर देखा है कि वृहत्कथा में भी एक मनोरंजक कथान्तर या पूर्वकथा है; परन्तु वह ठीक प्रश्नोत्तर के रूप में नहीं है। लीलावती में वह प्रश्नोत्तर के रूप में है। कादम्बरी में भी कथा शुक के द्वारा कहलवाई गई है और पूर्वकथा में बताया गया है कि किस प्रकार यह कथा ऋषिकुमारों के प्रश्नों के उत्तर में जाबालि ऋषि ने सुनाई थी और किस प्रकार शुक ने उनसे कथा सुनी, और इस प्रकार मूलतः प्रश्नोत्तर के रूप में ही यह कथा कही गई है। लीलावती में पूर्वकथा का घटाटोप उतना नहीं है। वहाँ सिर्फ कवि की पत्नी ने सायंकालीन मधुर शोभा को देखकर अपने प्रियतम को सम्बोधन करके कहा कि कोई सरस कथा कहो। इसके लिये बहुत अधिक भूमिका की जरूरत नहीं समझी गई। थोड़ी तो समझी ही गई है; क्योंकि इतना भी न रहे तो कथा भी ग्राम्य कवि की कही हुई कहानी बन जाय। सो, कवि की पत्नी ने देखा कि अन्तःपुर की गृहदीधिका या भवनवापी में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से झलकती हुई कान्तिवाले गन्धोत्कट कुमुदों में रसलोभ से कम्पमान भ्रमर छककर मकरन्दपान कर रहे हैं—

जोह्वाउरिय-कोस-कन्तिधवले स०गंगंधुक्कडे
णिड्विगंधं घर दीहियाणु सुरसंवेवंतओ मासलं ।
आसाणुइ सुमंजु गुजियरओ तिगिच्छि पाणासवं
उमिल्लंत दलावली परियओ चांदुज्जणु छप्पओ ॥२४॥

और फिर इसी प्रकार की मनोहर रात्रि भी है। यह समय कथा के लिये निश्चय ही बहुत उपयुक्त है। इसके बाद कथा शुरू हो जाती है। बीच-बीच में कवि बिना प्रसंग के ही 'प्रियतमे' 'कुवलयदलाक्षि' आदि सम्बोधनों का उसी प्रकार प्रयोग कर बैठता है जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी अपने मानस में 'उमा', 'खगेश' 'उरगारी' आदि सम्बोधनों का प्रयोग कर देते हैं। वस्तुतः तुलसीदासजी ने जब एक बार अपनी रचना को 'कथा' कह दिया तो उन्होंने उन सब रूढ़ियों का विधिवत् पालन किया जो प्राकृत और अपभ्रंश-कथाओं के लिये आवश्यक समझी जाती थीं। खल-निदा में भी नहीं चूके। कथान्तररूप में पूर्व-कथा की योजना उन्होंने भी की है और श्रोता-वक्ताओं के कई जोड़े उपस्थित किए हैं। मैं ठीक नहीं कह सकता कि इस प्रकार कई जोड़े श्रोता-वक्ता की योजना किसी अपभ्रंश-काव्य में थी या नहीं। उपलब्ध अपभ्रंश-काव्यों में मुझे इस प्रकार का जटिल प्रश्नविधान नहीं मिला। जटिलता का एक कारण तो यह हो सकता है कि तुलसीदासजी की कथा सिर्फ कथा नहीं, 'पुराण' भी है। मेरे मित्र डा० श्रीकृष्णलाल ने दिखाया है कि तुलसीदासजी के रामचरितमानस को 'पुराण' कहना अधिक संगत है। पुराणों में जटिल प्रश्नोत्तरविधान की योजना मिल जाती है; लेकिन पृथ्वीराजरासो में संभवतः इस प्रकार की जटिलता का कुछ आभास पाया जा सकता है। हिन्दी के आरम्भकाल में पाई जानेवाली कथाओं में इस प्रकार की श्रोता-वक्ता की योजनावाला विधान मिल जाता है। कीर्तिलता की कहानी भृंग और भृंगी की बातचीत के रूप में है। यद्यपि पद्मावत की पूरी कहानी किसी शुक के मुँह से नहीं कहलाई गई है तथापि शुक उस कहानी का

महत्त्वपूर्ण पात्र है और कथा में गति देने में वह विशेषरूप से सहायक है। जहाँ तक कथानक को श्रोता-वक्ता के रूप में कहने का संबंध है, सूफी कवियों में इस प्रकार की रूढ़ि कम पालित हुई है। जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों में भी इस रूढ़ि का विशेष पालन नहीं हुआ। फिर राजपूताने में पाई जानेवाली 'ढोला मारू' की कहानी भी सीधे ही शुरू होती है। संस्कृत में लिखे हुए जैनकवि हरिषेणाचार्य के 'कथाकोश' नामक ग्रन्थ में संगृहीत सभी कथाएँ सीधे ही शुरू होती हैं। इससे केवल यह निष्कर्ष निकलता है कि यह प्रथा बहुत व्यापक नहीं थी।

मैंने अबतक जो इतिहास के पुराने खँडहरों में आपको भटकाया वह केवल जानकारी बढ़ाने के उद्देश्य से नहीं। मैं इस बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता था कि प्राचीनकाल से ही प्राकृत और संस्कृत-कथाओं में श्रोता और वक्ता की परंपरा रखने का नियम चला आ रहा है। जैन-कवियों में और सूफी कवियों में इस नियम के पालन में थोड़ी शिथिलता दिखाई पड़ती है; परन्तु अन्यत्र श्रोता-वक्ता का रखना आवश्यक समझा जाता है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में भी यह नियम जरूर माना जाता रहा होगा। वैतालपंचविंशति, शुकसप्तति आदि कथाओं में भी पूर्वकथा की योजना की गई और रासो में तो यह योजना स्पष्ट ही मिल जाती है। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि विद्यापति की कीर्तिलता में उस समय के देश-भाषा-साहित्य के गुणानुवादप्रधान चरित-काव्यों के अनेक लक्षण मिलते हैं और यह पुस्तक उस युग के गुणानुवादमूलक चरितकाव्यों में सबसे अधिक प्रामाणिक है। कवि ने उसे 'काहाणी' या 'कथानिका' कहा है जो संभवतः उसके आकार की छोटाई के कारण है। उसमें प्रायः उन सभी छन्दों का व्यवहार हुआ है जिनका रासो में व्यवहार मिलता है। रासो की ही भाँति उसमें संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रयोग है और देश्यमिश्रित अपभ्रंश तो वह है ही। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों ऐतिहासिक व्यक्ति के गुणानुवाद-मूलक चरित-काव्य इसी ढंग से लिखे जाते थे। विद्यापति के सामने ऐसा ही कोई ग्रन्थ आदर्शरूप में उपस्थित था। मैं यह नहीं कहता कि वह ग्रन्थ 'पृथ्वीराजरासो' ही था; क्योंकि गद्यपद्यमयी रचना को संस्कृत में 'चंपू' कहते हैं। किन्तु प्राकृत की पद्यबद्ध कथाओं में थोड़ा-थोड़ा गद्य भी रहा करता था। लीलावती में गद्य है, पर वह नाममात्र का ही है। कीर्तिलता में गद्य और पद्य दोनों हैं। रासो में भी गद्य अवश्य रहा होगा। वस्तुतः रासो में बीच-बीच में जो वचनिकाएँ आती हैं वे गद्य ही हैं। निस्सन्देह इन वचनिकाओं की भाषा में भी परिवर्तन हुआ होगा; परन्तु वे इस बात के सवृत के रूप में आज भी वर्तमान हैं कि उन दिनों की प्राकृत और अपभ्रंश-कथाओं के संपूर्ण लक्षण रासो में मिलते हैं।

पृथ्वीराजरासो चरित-काव्य तो है ही, वह रासो या 'रासक' काव्य भी है। हेमचंद्र ने काव्यानुशासन में रासक को गेयरूपक माना है।^१ ये गेयरूपक तीन प्रकार के होते थे — मसृण अर्थात् कोमल, उद्धत और मिश्र। रासक-मिश्र गेयरूपक है। टीका में इन गेयरूपकों के संबंध में बताया गया है कि इनमें से कुछ तो स्पष्टरूप से कोमल हैं जैसे

१. गेयं डोम्बिकाभाणप्रस्थानशिङ्गकभापि सप्रेरणराकाक्रीडहल्लीसकरासकगोष्ठीश्रीगदित-
रागकाव्यादि । ८-४

डोम्बिका । इस गेयरूपक के बारे में अधिक विचार करने का अवसर हमें आगे मिलेगा । कुछ दूसरे हैं जो स्पष्टरूप से उद्धतरूपक हैं जैसे भाणक । कुछ ऐसे हैं जिनमें मसृण की प्रधानता होती है, कुछ उद्धत भी मिल जाता है । कुछ में उद्धत कम मिला होता है, जैसे प्रस्थान । कुछ में अधिक मिला होता है, जैसे शिङ्गटक । परन्तु ऐसे भी कई हैं जिनका प्रधानरूप तो उद्धत होता है फिर भी थोड़ा-बहुत मसृण का प्रवेश हो जाता है । भाणिका ऐसा ही है । फिर प्रेरण, रामाक्रीड, रासक, हल्सीस आदि ऐसे ही रूपक हैं । सो, रासक आरंभ में एक प्रकार के उद्धत-प्रयोग-प्रधान गेयरूपक को कहते थे जिसमें थोड़ा-बहुत 'मसृण' या कोमल प्रयोग भी मिले होते थे । इसमें बहुत-सी नर्तकियाँ विचित्र ताल-लय के साथ योग देती थीं । यह मसृणोद्धत ढंग का गेयरूपक था । संदेशरासक इसी प्रकार का रूपक है । यह मसृण अधिक है । पृथ्वीराजरासो यदि सचमुच ही पृथ्वीराज के काल में लिखा गया था तो उसमें रासक-काव्य के कुछ-न-कुछ लक्षण भी अवश्य रहे होंगे । संदेशरासक का जिस ढंग से आरंभ हुआ है उसी ढंग से रासो का भी आरंभ हुआ है । आरंभ की कई आर्याएँ तो गुरु-अध्या मिलती हैं ।

उदाहरण लीजिए—

संदेशरासक—

जइ बहुलदुद्ध संमीलिया, य उल्ललइ तंदुला खीरी ।

ता कणकुक्कुस सहिष्ठा रब्बडिया मा दडब्बड ॥१६॥

पृथ्वीराजरासो—

पय सक्करी सुभत्तौ, एकत्तौ कनय राय भोयंसी ।

कर कंसी गुजरीय, रब्बरियं नैव जीवन्ति ॥ छं० ४३, रू० १६

संदेशरासक—

जइ भरहभावज्जंदे एच्चइ एवरंगचंगिमा तरुणी ।

ता किं गाम गहिल्ली ताली सदे ए एचेइ ॥१५॥

पृथ्वीराजरासो—

सत्त खैन आवासं, महिलानं मइ सइ नूपरया ।

सत्तफल वज्जुन पयसा, पडवरियं नैव चालन्ति ॥ छं० ४४, रू० १७

इत्यादि ।

संदेशरासक में युद्ध का कोई प्रसंग नहीं है । पर उद्धत-प्रयोग-प्रधान गेयरूपक में युद्ध का प्रसंग आना प्रयोगानुकूल ही होगा और युद्धों के साथ प्रेमलीलाओं का मिश्रण भी प्रयोग और वक्तव्य-विषय के मिश्रण के अनुकूल ही होगा । इससे लगता है कि पृथ्वीराज-रासो आरंभ में ऐसा कथाकाव्य था जो प्रधानरूप से उद्धत-प्रयोग-प्रधान मसृण-प्रयोग-युक्त गेयरूपक था । उसमें कथाओं के भी लक्षण थे और रासकों के भी ।

हेमचंद्राचार्य ने यह स्पष्टरूप से लिखा है कि इन काव्यरूपों के ये भेद पुराने लोगों के बताए हुए हैं—पदार्थोभिनयस्त्रभावाति डोम्बिकादीनि गेयानि रूपकाणि चिरन्तनैरुक्तानि । और उन्होंने पुराने आचार्यों के बताए लक्षण भी उद्धृत किए हैं । धीरे-धीरे इन शब्दों का प्रयोग कुछ धिसे अर्थों में होने लगा । जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरितकाव्य लिखे

गए, 'रूपक' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, 'प्रकाश' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गए। जब इन काव्यों के लेखक इन शब्दों का व्यवहार करते होंगे तो अवश्य ही उनके मन में कुछ-न-कुछ विशिष्ट काव्यरूप रहता होगा। राजपूताने के डिगल-साहित्य में परवर्ती काल में ये शब्द साधारण चरित-काव्य के नामान्तर हो गए हैं। बहुत-से चरितकाव्यों के साथ 'रासो' नाम जुड़ा मिलता है—जैसे, 'रायमलरासो, राणारासो, सगतसिंघरासो, रतनरासो' इत्यादि। इसी प्रकार बहुतेरे चरितकाव्यों के साथ 'विलास' शब्द जुड़ा हुआ है—जैसे, राजविलास, जगविलास, विजैविलास, रतनविलास, अभैविलास, भीमविलास। 'विलास' शब्द भी कुछ क्रीड़ा, कुछ खेल आदि की ओर इशारा करता है। इसी प्रकार कुछ काव्यों के नाम के साथ 'रूपक' शब्द जुड़ा हुआ है—जैसे, राजारूपक, गोगादे-रूपक, रावरीणमलरूपक, गर्जसिंघ-जीरूपक इत्यादि। स्पष्ट ही रूपक शब्द किसी अभिनेयता की ओर संकेत करता है। ये शब्द केवल इस बात की ओर संकेत करके विरत हो जाते हैं कि ये काव्यरूप किसी समय, गेय और अभिनेय थे। 'रासक' का तो इस प्रकार का लक्षण भी मिल जाता है। परन्तु धीरे-धीरे ये भी कथाकाव्य या चरितकाव्य के रूप में ही याद किए जाने लगे। इनका पुराना रूप क्रमशः भुला दिया गया; परन्तु पृथ्वीराज के काल में यह रूप संपूर्णरूप से भुलाए नहीं गए थे। इसीलिये पृथ्वीराजरासो में कथा-काव्यों के भी लक्षण मिल जाते हैं और रासकरूप के भी कुछ चिह्न प्राप्त हो जाते हैं।

हमने ऊपर कथा के जिन सामान्य लक्षणों का उल्लेख किया है वे गद्य, पद्य सबमें ही मिलते हैं। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि विद्यापति ने अपनी कहानी का ढाँचा उन दिनों अत्यधिक प्रचलित चरितकाव्यों के आदर्श पर ही बनाया होगा। कीर्तिलता की कहानी भृंग और भृंगी के संवादरूप में कहलवाई गई है। प्रत्येक पल्लव के आरंभ में भृंगी भृंग से प्रश्न करती है और फिर भृंग कहानी शुरू करता है। रासो के वर्तमान रूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल रासो में भी शुक और शुकी के संवाद की ऐसी ही योजना रही होगी। मेरा अनुमान है कि इस मामूली-से इंगित को पकड़कर हम मूल रासो के कुछ रूप का अन्दाजा लगा सकते हैं। इतने दिनों की ऐतिहासिक कचकचाहट से इतना तो निश्चित हो ही गया है कि परवर्ती काल में रासो में बहुत अधिक प्रक्षेप हुआ है। यदि हम इस संकेत से रासो के मूलरूप का कुछ आभास पा सकें तो यह मामूली लाभ नहीं होगा। इतनी देर तक इसी लाभ की आशा से मैं आपको साहित्यिक इतिहास के खँडहरों में भटकता रहा। देखा जाए।

शुरू में (प्रथम समय, छन्द ग्यारह और आगे) चन्द की स्त्री शंका करती है। यह बात एकाएक आ जाती है, इसके पहले चन्द की स्त्री का कहीं उल्लेख नहीं है। ग्यारहवें छन्द के पहले कवि ने विनयवश कह दिया है कि वह अपने पूर्ववर्ती महाकवियों का उच्छिष्ट कथन कर रहा है। यहीं पर चन्द की स्त्री शंका करती है कि यह कैसे हो सकता है। प्रसंग से जान पड़ता है कि कथा चन्द और उसकी पत्नी के संवादरूप में चल रही है। इसके पहले उसका कोई आभास नहीं है, फिर काफी दूर जाकर प्रश्नोत्तर का क्रम फिर शुरू होता है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है, कि रात्रि के समय रस में आकर कविपत्नी ने

पृथ्वीराज की कीर्ति-कथा आदि से अन्त तक वर्णन करने का अनुरोध किया । बहुत कुछ यह 'लीलावती' के कवि कोतूहल की पत्नी के समान ही है । लगता है कि इस गाथा को ग्रंथ के शुरू में आना चाहिए था । गाथा इस प्रकार है—

समयं इक निसि चंदं । वाम वत्त वदि रस पाई ॥

दिलली ईस गुनेयं । किस्ती कहो आदि अंताई ॥

फिर अचानक पाँचवें समय में संवाद कवि और कविपत्नी के बीच न होकर शुक और शुकी के बीच चलने लगता है । शुकी कह उठती है कि हे शुक, सँभलो, हे प्राणपति, बताओ कि भोला भीमंग के साथ पृथ्वीराज का वैर कैसे हुआ ?—

सुकी कहै शुक संभरौ कहौ कथा पति प्रान ।

पृथु भोरा भीमंग पडु, किय हुअ वैर वितान ।

यहाँ अचानक ही शुक का आ जाना कुछ विचित्र-सा लगता है । फिर कवि और कवि-पत्नी कभी नहीं आते । रासो-सार के लेखकों ने शुक को कवि चंद और शुकी को उसकी पत्नी मान लिया है । पता नहीं, किस प्रकार यह बात उनके मन में आई है । शायद उनके पास कोई ऐसी परंपरा का प्रमाण हो । ग्रंथ से यह नहीं पता चलता कि शुक कवि चंद है और शुकी कवि-पत्नी । मुझे तो यह भी संदेह होने लगा है कि 'समयं इक निसि चंद'-वाली गाथा कुछ विकृत रूप में आई है और इसी गाथा में शुक और शुकी की चर्चा होनी चाहिए । जो हो, उसके आगे के दोहों में स्पष्ट है कि वार्तालाप कवि और उसकी पत्नी में चल रहा है । इसलिये इस अनुमान को दूरतक घसीटना अच्छा नहीं जान पड़ता । अस्तु ।

इसके बाद बारहवें समय में पहले एक छंद में तिथि-वार बता लेने के बाद शुकी इच्छिनी के विवाह के विषय में प्रश्न करती है—

जंषि सुकी शुक पेम करि, आदि अन्त जो बत्त ।

इच्छिनि पिथ्यह व्याहविधि, रुप सुनंते गत्त ॥

वैसे तो रासो में पृथ्वीराज के नौ विवाहों का उल्लेख है, पर तीन विवाह ऐसे हैं जिन्हें कवि ने विशेष रस लेकर लिखा है । ये तीन विवाह हैं इच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता नामक राजकुमारियों के साथ पृथ्वीराज के विवाह । तीनों ही में शुकी ने शुक से प्रश्न किया है । शेष विवाहों में ऐसी योजना नहीं मिलती । रासो के अन्तिम अंश से स्पष्ट है कि इच्छिनी और संयोगिता ही मुख्य रानियाँ हैं और अन्त तक इर्ष्या और प्रतिस्पर्धा का द्वन्द्व इन्हीं में चलता है । सो, प्रमुख विवाहों में एक इच्छिनी का विवाह है और इस प्रसंग में शुकी का मिलना काफी संकेतपूर्ण है । इच्छिनी के विवाह का प्रसंग उत्थापित हुआ है कि तेरहवें समय में अचानक शहाबुद्दीन गोरी के साथ लड़ाई हो जाती है । इस प्रकार हर मौके-बे-मौके शहाबुद्दीन प्रायः ही रासो में आ धमकता है । यह सत्य है कि ऐतिहासिक कहानी के लेखक के लिये कथा का मोड़ अपने वश की बात नहीं होती; किन्तु प्रसंग का उत्थापन-अवस्थापन तो उसके वश की बात होती ही है । यहाँ कवि लाचार मालूम देता है । शहाबुद्दीन उसकी गैर जानकारी में आ गया जान पड़ता है । मजेदार बात यह है कि तेरहवाँ समय—जो 'कवि चंद विरचित प्रथिराज रासके सलष जुद्ध पातिसाह ग्रहन नाम त्रयोदश प्रस्ताव' है—शुक-शुकी के इस संवाद से अंत होता है—

सुकी सरस सुक उच्चरिय प्रेम सहित आनंद ।

चालुकां सोज्झति संध्यौ सारुंडे में चंद ॥

(दूहा सं० १५९)

अर्थात् वस्तुतः चालुक्यराज भोरा भीमंग के हराने का प्रसंग ही चल रहा था कि बीच में शहाबुद्दीन का 'अपटीक्षेपेण' प्रवेश विशेष ध्यान देने योग्य व्यापार नहीं है, और सच पूछिए तो मैं यह बात आपसे छिपाना नहीं चाहता कि यह बात मेरे मन में समाई हुई है कि चंद का मूल ग्रंथ शुक-शुकी-संवाद के रूप में लिखा गया था । और जितना अंश इस संवाद के रूप में है उतना ही वास्तविक है । विद्यापति की कीर्तिलता के समान रासो में भी प्रत्येक अध्याय के आरंभ में—और कदाचित् अंत में भी—शुक और शुकी की बातचीत उसमें अवश्य रही होगी ।

चौदहवां समय इस प्रकार शुरू होता है—

कहै सुकी सुक संभलौ । नींद न आवे मंहि ।

रय निरवानिय चंद करि । कथ इक पृछें तोहि ॥

सुकी सरिस सुक उच्चरयो । धरयो नारि सिर चित्त ।

सयन संयोगिय संमरै । मन में मंडप हित्त ॥

धन लड्वाँ चालुक संध्यौ । बंध्यो सेत पुरसांन ।

इंछनि ग्याही इच्छ करि । कहो सुनहि दे कान ॥

और फिर इच्छिनी-विवाह को कवि ने जमके वर्णन किया है । इससे कुछ अधिक जमके संयोगिता का विवाह-वर्णन किया है और इससे कुछ कम जमके शशिवृता का । चौदहवें समय के बीच में फिर एक बार शुकी शुक से इच्छिनी के नख-शिख का वर्णन पूछती है । ऐसा लगता है कि यहाँ से कोई नया अध्याय शुरू होना चाहिए । पर हुआ नहीं है । प्रसंग तो इच्छिनी-विवाह है ही । प्रश्न इस प्रकार है—

बहुरि सुकी सुक सौं कहै, अंग अंग दुति देह ।

इंछनि इंछ बखानि कै मंहि सुनावहु एह ॥

प्रायः नई कथा शुरू करने या पुरानी कथा के समाप्त करने के समय शुकी द्वारा शुक के संभलने और सो न जाने के लिये सावधान करने की बात आ जाती है । कभी-कभी किसी समय के बीच में अचानक इस संभलने की हिदायत मिल जाती है और पाठक को यह अनुमान करने का अवसर मिलता है कि मूल रासो में उस स्थल पर से कथा का कोई नया अध्याय शुरू हुआ होगा । कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि इसके पहलेवाला अंश प्रक्षिप्त है । उदाहरणार्थ पचीसवें समय में राजा के शिकार आदि के ऐसे प्रसंग हैं जो सुकविजनचित्त कम हैं और भट्टभणन्त अधिक । पृथ्वीराज शूकर का पता बतानेवाले एक बधिक के साथ अकेले ही चल पड़ते हैं, सरदार लोग भी अनुगमन करते हैं, अचानक शुकी शुक से पूछ बैठती है कि पृथ्वीराज के गन्धर्व विवाह की कहानी सुनाओ—

पुच्छ कथा सुक कहो । समह गंधर्वी सुप्रेमहि ॥

स्ववन मंमि संजोगि । राज समधरी सुनेमहि ॥

..... । इम चितिय मन ममिभू ॥

कै करो पति जुगनि ईसह । ईस पुजै सुजग्गीसह ॥

शुक चिंति बाल अति लघु सुनत । ततविन त्रिसउपजै तिहि ॥

देव सभा न जददुव त्रपति । नाल केर दुज असुरसहि ॥६८॥

—पचीसवाँ समय

और फिर एकाएक शशिवृता के गंधर्वविवाह की कहानी शुरू हो जाती है, और शुरू भी ऐसी होती है कि समाँ बँध जाता है। कम प्रसंगों में रासोकार का कवित्व इतना मुखर हुआ होगा। निश्चय ही यह चंद-जैसे कवि के योग्य रचना है।

मुझे ठीक नहीं मालूम कि किस आधार पर 'रासो सार' के लेखक ने शुकी का अर्थ कवि-पत्नी कर लिया है। शायद शुरू में कवि और कविपत्नी का संवाद देखकर और बाद में समूचे ग्रंथ में शुक और शुकी का प्रसंग पढ़कर उन्होंने अनुमान कर लिया हो कि 'शुक और शुकी कोई और नहीं कवि चन्द और उनकी पत्नी हैं'। बीच-बीच में शुक और शुकी के स्थान पर 'दुज और दुजी' (द्विज = पक्षी) का नाम आ जाता है, और उसपर से भी यह भ्रम हो जाता है कि यहाँ किसी ब्राह्मण और ब्राह्मणी का उल्लेख है या उन्हें फिर कोई और परम्परा हाथ लगी हो। पर मेरी धारणा यही है कि शुक, शुकी का ही रासोकार ने दुज, दुजी कहकर उल्लेख किया है। रासो में इन बातों के अन्तरंग प्रमाण उपस्थित हैं। शीघ्र ही हम इसकी चर्चा करने का अवसर पाएँगे।

पचीसवें समय के बाद बहुत दूर तक शुक और शुकी का पता नहीं चलता। सैतीसवें समय में वे फिर द्विज और द्विजी के रूप में आते हैं।

दुज सम दुजी जु उच्चरिय, ससि निसि उज्ज्वल देख ।

फिम तूअर पाहार पहु गहिय सु असुर नरंस ॥

यदि मेरा यह अनुमान ठीक हो कि शुक-शुकी के संवाद के रूप में ही रासो लिखा गया था, तो कहा जा सकता है कि मूल रासो में शहाबुद्दीन के आने का यह प्रथम अवसर है।

दीर्घ व्यवधान के बाद पैतालीसवें समय में फिर शुक-शुकी-संवाद बीच में उपस्थित हो आता है। शुक-शुकी का प्रसंग आने के पहले यहाँ अप्रासंगिक रूप से रामायण की कथा आ गई थी। चौवन छन्दों के बाद पचपनवाँ छन्द इस प्रकार है—

शुकी सुनै सुक उच्चरै । पुढव संजोय प्रताप ।

जिहि छर अछर मुनि छयो । जिन त्रिय भयो सराप ॥५५॥

—पैतालीसवाँ समय

यहाँ से संयोगिता की कहानी शुरू होती है। कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है कि कोई मंजुघोषा जिसे बाद में चलकर रंभा कहा गया है, इन्द्र की आज्ञा से ऋषि को छलने गई थी, और ऋषि के पिता द्वारा अभिशप्त होकर मर्त्यलोक में संयोगिता के रूप में अवतीर्ण हुई थी। यहीं से संयोगिता के स्वयंवर, विवाह और हरण की कहानी दूर तक चली जाती है। बीच-बीच में लड़ाइयाँ भी टपक पड़ती हैं, परन्तु प्रेम-व्यापार ठीक ही चलता रहता है। प्रक्षिप्त अंश इस कथा में भी बहुत है। सुमन्त मुनि जब

अप्सरा पर आकृष्ट होकर उसपर अपना सब जप-तप निछावर करने पर उतारू हो जाते हैं, तो अप्सरा तुलसीदासजी की पत्नी की भाँति कह उठती है, कि मुझसे नहीं, भगवान से प्रेम करो। सगुण भक्ति की प्रशंसा भी करती है। सुनते ही लगता है, कि यह प्रसंग तुलसीदासजीवाली कहानी से प्रभावित होकर लिखा जा रहा है। पैतालीसवें समय के एक सौ अड़तालीसवें दोहे में तो 'भै विन प्रीति न होइ' आता है, जो लगभग इसी प्रकार की तुलसी के रामायण की याद दिलाए बिना नहीं रहता। यह प्रसंग सावधान करता है कि शुक-शुकी का नाम देखकर ही सब बातों को ज्यों-का-त्यों पुराना नहीं मान लिया जा सकता। फिर भी संयोगिता की कहानी निःसन्देह प्राचीन है।

छियालीसवें समय में विनयमंगल है जिसकी चर्चा इसके पहलेवाले व्याख्यान में कर चुका हूँ। इस विनयमंगल के बीच शुक-शुकी फिर आ जाते हैं—

निकट सुकी सुक उच्चरय । कर अवलम्बित डार ॥

मवरिय अंब सु अंब लगि । सुनत सु मारनि मार ॥७४॥

विनय साल सुक सुकनि दिपि । सर संभरिय अपार ॥

मानो मदन सुमत्त की । विधि संजोगि सु सार ॥७५॥

—छियालीसवाँ समय

विनयमंगल में संयोगिता को वबूधर्म की शिक्षा दी गई है, और विनय की मर्यादा बताई गई है। इस समय में 'इति विनयकाण्ड समाप्त' लिखने के बाद दुज-दुजी का संवाद और स्थलों की अपेक्षा जरा विस्तार के साथ आया है। दुज-दुजी को संभलने के लिए कहता है, और यहाँ से वे कहानी के श्रोता और वक्ता नहीं रह जाते, बल्कि पद्मावत के शुक की भाँति स्वयं कहानी के पात्र बन जाते हैं और संयोगिता और पृथ्वीराज के प्रेम-घटक के रूप में उपस्थित हो जाते हैं। पहले तो शुक 'नर भेष धरि साकार' पृथ्वीराज के पास जाता है। उधर दुजी भी उड़कर संयोगिता के पास जाती है। स्पष्ट ही यहाँ दुज और दुजी पक्षी हैं, ब्राह्मण और ब्राह्मणी नहीं। 'द्विज चले उड्डि कनवज्ज दिसि' आदि पंक्तियों में इसकी स्पष्ट ध्वनि है। यह सैंतालीसवें समय की कथा है।

संभवतः यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार की कथा रुद्रट और हेमचन्द्र के बताए लक्षणों से बहुत दूर नहीं पड़ेगी। साहित्यिक दृष्टि से भी यह अंश बहुत उपादेय हुआ है। शुक-शुकी के संवादरूप में कथा कहने की योजना तत्काल-प्रचलित नियमों के अनुकूल तो थी ही, इसलिए भी आवश्यक थी कि उसमें चंद कवि स्वयं एक पात्र है। किसी दूसरे के मुख से ही अपने बारे में कुछ कहलवाना कवि को उचित लगा होगा। इस प्रकार सब दृष्टियों से ऊपर बताए हुए प्रसंग रासो के मूलरूप होंगे। अब संक्षेप में उनकी साहित्यिक दृष्टि से परीक्षा कर लेनी चाहिए। क्योंकि कथा की परीक्षा इतिहास की दृष्टि से नहीं, काव्य की दृष्टि से होनी चाहिए। पुरानी कथाएँ काव्य ही अधिक हैं, इतिहास वे एकदम नहीं हैं। ऐतिहासिक काव्यों के बारे में हम अगले व्याख्यान में कुछ विस्तार से कहने का अवसर पाएँगे। यहाँ संस्कृत की कथाजातीय पुस्तकों को एक क्षण के लिये देख लेना आवश्यक जान पड़ता है।

आलंकारिक ग्रंथों के कथा-आख्यायिका के लक्षण बाह्यरूप की ओर ही इंगित करते हैं। उनका कथा के वक्तव्य वस्तु से कोई सीधा संबंध नहीं है। परवर्ती गद्य-काव्यों में नाना भाँति के अलंकारों से अलंकृत करके सुललित गद्य लिखना ही लेखक का प्रधान उद्देश्य हो गया था। इन काव्यों में कवि को कहानी कहने की जल्दी नहीं जान पड़ती। वह रूपक, दीपक और श्लेष आदि की योजना को ही अपना प्रधान कर्तव्य मान लेता है। सुबंधु ने तो यह प्रतिज्ञा ही कर ली थी कि अपने ग्रंथ में आदि से अन्त तक श्लेष का निर्वाह करेंगे। इन कथाकारों के मृकुटमणि बाणभट्ट ने कथा की प्रशंसा करते हुए मानों अपनी ही रचना के लिये कहा था कि सुस्पष्ट मधुरालाप और भावों से नितान्त मनोहरा तथा अनुरागवश स्वयमेव शय्या पर उपस्थित अभिनवा वधू की तरह सुगम, कला-विद्य-संबंधी वाक्य-विन्यास के कारण सुश्राव्य और रस के अनुकरण के कारण बिना प्रयास समझ में आनेवाले शब्दगुंफवाली कथा किसके हृदय में कौतुकयुक्त प्रेम उत्पन्न नहीं करती? सहजबोध्य दीपक और उपमा अलंकार से संपन्न अपूर्व पदार्थ के समावेश से विरचित अनवरत श्लेषालंकार से किञ्चित् दुर्बोध्य कथाकाव्य उज्ज्वल प्रदीप के समान उपादेय चम्पक की कली से गुँथे हुए और बीच-बीच में चमेली के पुष्प से अलंकृत घनसंनिविष्ट मोहनमाला की भाँति किसे आकृष्ट नहीं करता?—

स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम् ।

रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ॥

हरन्तिप कं नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिता कथा ।

निरन्तरश्लेषघना सुजातयो महास्रजश्चंपककुड्मलैरिव ॥

—कादम्बरी

अर्थात् संस्कृत के आलंकारिक जिस रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, जो अंगी है, वही कथा और आख्यायिका का भी प्राण है। कथा-काव्य में कहानी या आख्यान गौण है, अलंकार-योजना गौण है, पदसंघट्टना भी गौण है, मुख्य है केवल 'रस'। यह रस अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, शब्द से वह अप्रकाश्य है। उसे केवल व्यंग्य या ध्वनिता किया जा सकता है। इस बात में काव्य और कथा-आख्यायिका समान हैं। विशेषता यह है कि कथा-आख्यायिका में रस के अनुकूल कहानी, अलंकार-योजना और पद-संघट्टना सभी महत्त्व-पूर्ण हैं, किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक पद्य के बन्धन से मुक्त होने के कारण ही गद्य-कवि की जिम्मेवारी बढ़ जाती है। वह अलंकारों की और पदसंघट्टना की उपेक्षा नहीं कर सकता। कहानी तो उसका प्रधान वक्तव्य ही है। कहानी के रस को अनुकूल रखकर इन शर्तों का पालन सचमुच ही कठिन है, और इसीलिए संस्कृत के आलोचक ने गद्य को कवित्व की कसौटी कहा है—'गद्यं कवीनां निकषां वदन्ति'। किन्तु अपभ्रंश और प्राकृत की कथाओं में पद का बन्धन भी लगा हुआ है। अपभ्रंश में भी अलंकार कथा का बहुत महत्त्व-पूर्ण उपादान समझा जाता रहा है। 'णायकुमार-चरित' में एक संकेतपूर्ण वाक्य आया है। सौत के कुचक्र से राजा ने नागकुमार की माता के सब अलंकार उतरवा लिए थे। जब नागकुमार लौटा, तो उसने अपनी माता

को ऐसा निरलंकार देखा, मानों कुकवि की लिखी कथा हो। इससे जान पड़ता है, कि अलंकार का अभाव कथा को फीका कर देता है।

पृथ्वीराजरासो ऐसा ही रसमय सालंकार युद्धबद्ध कथा थी जिसका मुख्य विषय नायक की प्रेमलीला, कन्याहरण और शत्रुपराजय था। इन्हीं बातों का मूल रासो में विस्तार रहा होगा। ऊपर जिन अंशों को रासो का पुराना रूप कहा गया है उनमें इन्हीं बातों का विस्तार है। यह कहना तो कठिन है कि इससे अधिक उसमें कुछ थाही नहीं; पर जहाँ तक अनुमानशक्ति के उपयोग का अवसर है वहाँ तक लगता है कि रासो ऐसी ही कथा थी। ऐसी कथाएँ उन दिनों और भी बहुत-सी लिखी गई थीं। कुछ का आभास संस्कृत-प्राकृत के विजय, विलास, रासक आदि की श्रेणी के काव्यों से लगता है और कुछ का उस समय की लिखी हुई नाटिकाओं, सट्टकों, प्रकरण, शिलालेख-प्रशस्तियों आदि से मिलता है। संस्कृत में इतिहास का कुछ पता बता देनेवाले काव्य तो मिलते हैं पर उन्हें ऐतिहासिक काव्य नहीं कहा जा सकता। सब जगह इतिहास-प्रथित तथ्यों पर कल्पना द्वारा उद्भावित घटनाएँ प्रधान हो उठती हैं। आगेवाले व्याख्यान में मैं थोड़ा-सा इन ऐतिहासिक कहे जानेवाले काव्यों पर विचार करूँगा और फिर रासो के इस नवोद्घाटित मूलरूप के काव्य-सौंदर्य पर विचार करूँगा।

मुझे खेद है कि रासो का प्रसंग कुछ अधिक बढ़ाने को बाध्य हो रहा हूँ, पर सब दृष्टियों से यह इतना महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है कि थोड़ा और विचार कर लेना बहुत अनुचित नहीं होगा।

चतुर्थ व्याख्यान

हमारे आलोच्यकाल में ऐतिहासिक पुरुषों के नाम से संबद्ध कई काव्य, नाटक और चंपू आदि मिले हैं। पृथ्वीराजरासो के बारे में हम कह आए हैं कि ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम से जुड़े रहने के कारण शुरू-शुरू में अनुमान किया गया था कि इससे इतिहास का काम निकलेगा। पर यह आशा फलवती नहीं हुई। कम ही ऐतिहासिक पुरुषों के नाम से संबद्ध पुस्तकें इतिहास-निर्माण में सहायता कर सकी हैं। कुछ से ऐतिहासिक तथ्यों, नामों और वंशावलियों का कुछ संधान मिल जाता है। कुछ से इतना भी नहीं मिलता।

बहुत पहले से तो नहीं, पर पृथ्वीराज के आविर्भाव के काफी पहले से ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से सम्बद्ध काव्य-पुस्तकें लिखी जाने लगी थीं। शिलालेखों और ताम्रपट्ट की प्रशस्तियों में तो ऐसी बात बहुत पुराने जमाने से मिलती है, पर पुस्तकरूप में सम-सामयिक राजाओं के नाम से सम्बद्ध रचना सातवीं शताब्दी से पहले की नहीं मिला। बाद की शताब्दियों में यह बात बहुत लोकप्रिय हो जाती है और ९ वीं, १० वीं शताब्दी में तो संस्कृत-प्राकृत में ऐसी रचनाएँ काफी बड़ी संख्या में मिलने लगती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय साहित्य में यह प्रवृत्ति नई है। सातवीं शताब्दी के बाद भारतीय जीवन और साहित्य में अनेक नये उपादान आए हैं। ऐतिहासिक काव्य भी उनमें एक है। संभवतः तत्काल-प्रचलित देशभाषा या अपभ्रंश में ऐसी रचनाएँ अधिक हुई थीं। इस काल के संस्कृत-साहित्य में राजस्तुति का बहुत प्रमुख स्थान है। अपभ्रंश की रचनाओं में ऐसी राजस्तुति-परक रचनाओं का होना स्वाभाविक ही था। कई नवागत जातियों ने, जिनमें आभीर, गूजर और अनेक राजपूत समझी जानेवाली जातियाँ भी हैं, राज्य अधिकार किया था। वे जिन प्रदेशों से आए थे वहाँ की अनेक रीति-नीति भी साथ ले आए थे। फिर वे संस्कृत उतनी अच्छी तरह समझ नहीं पाते थे, यद्यपि अपने क्षत्रियत्व का दावा उच्चस्वर से घोषित करने के लिये वे पंडितों का सम्मान भी करते थे और साधारण जनता से अपने को श्रेष्ठ बताने के जितने प्रयत्न संभव थे, सभी करते थे। इन उपायों में देशी भाषा की उपेक्षा भी एक था। फिर भी सचाई यह है कि वे अपभ्रंश में लिखी स्तुतियाँ ही समझ सकते थे। इसलिये अपभ्रंश में तेजी से राजस्तुतिपरक साहित्य की परंपरा स्थापित होने लगी। संस्कृत में भी यह बात थी, पर संस्कृत में और भी सी बातें थीं।

हर्षचरित समसामयिक राजा के नाम के साथ सम्बद्ध प्रथम काव्य है। यद्यपि वह कवि के आश्रयदाता का जीवनचरित है पर इसमें इतिहास की अपेक्षा काव्य ही प्रधान हो उठा है। हर्ष के जीवन का पूरा चित्र तो इसमें मिलता ही नहीं, उसके राजनीतिक कार्यों और योजनाओं का भी कोई स्पष्ट परिचय नहीं मिलता। यह भी पता लगाना कठिन ही है कि सम्राट् के संपर्क में आनेवाले लोगों की क्या स्थिति थी। और तो और, गौड़ और मालवराज-जैसे महत्त्वपूर्ण पात्र भी अस्पष्ट ही रह गए हैं। अन्य साधारण व्यक्तियों की तो बात ही क्या है। सब मिलाकर हर्षचरित में ऐतिहासिक तथ्य नाममात्र को ही है। प्रधानतः वह गद्यकाव्य है। उसकी शैली वही है, अन्तरात्मा वही है, और स्थापन-पद्धति भी वही है। इतिहास-लेखक उससे लाभान्वित हो सकता है; क्योंकि हर्ष के सभामण्डल का, ठाटवाट का, रहन-सहन का, उसे परिचय मिल जाता है, पर उसे सावधान रहना पड़ता है। कौन जाने, कवि कल्पना के प्रवाह में उपमा, रूपक, दीपक या श्लेष की उमंग में तथ्य का कितना बढ़ा रहा है, कितना आच्छादित कर रहा है, कितना दूसरे रंग में रँग रहा है। इस कवि के लिये कल्पना की दुनिया वास्तविक दुनिया से अधिक सत्य है। और वास्तविक जगत् की कोई घटना सिर्फ उसकी कल्पनावृत्ति को उकसाने का सहारा भर है। इस प्रकार इतिहास इसकी दृष्टि में गौण है। वह केवल कल्पनावृत्ति को उकसाने के लिये और मनोहरतर जगत् के निर्माण के लिये सहायक मात्र है। विवाह के समय स्त्रियाँ नाचती-गाती थीं, यह ऐतिहासिक तथ्य है। कवि के लिये इतना संकेत काफी है। फिर वह कल्पना का जाल बिछा देगा। स्थान-स्थान पण्य-विलासिनियों के नृत्य-आयोजन को वह इस रूप में चित्रित करेगा जिससे पाठक का चित्त मदबिह्वल हो जाय। 'मंद-मंद भाव से आस्फाल्यमान आलिंग्यक नामक वाद्य मुखर हो उठेंगे, मधुर शिजनकारी मंजुल वेणुनिनाद से दिङ्मण्डल भनभना उठेगा, भनभनाती हुई झल्लरी के साथ कलकांस्य और कोशी के ववणन अपूर्व ध्वनिजाल उत्पन्न करेंगे, उत्ताल ताल से दिङ्मण्डल चटचटा उठेगा, निरंतर ताड्यमान तंत्री-पटह की गुंजार से और मृदु-मधुर भंकार के साथ भंक्रुत अलावु वीणा की मनोहर ध्वनि से नृत्य वाचाल हो उठेगा और आप इस अपूर्व मायालोक में देखेंगे कि सुन्दरियों के कानों में ऋतुसुलभ पुष्प नृत्य के आघूर्णनवेग से दोलायित हो रहे हैं और कुकुम-गौर-कान्ति नृत्यचारियों के वेग के साथ सौंदर्यचक्रवाल की सृष्टि कर रही है और बाणभट्ट के मुख से आप उस शोभा और श्री की अपूर्व सम्पत्ति को सुनकर चकित रह जाएँगे। आपको मालूम होगा कि वे किशोरियाँ नृत्य के नाना करणों में जब भुजलताओं को आकाश में उत्क्षिप्त करती थीं तो ऐसा लगता था कि उनके कंकण सूर्य-मण्डल को बन्दी बना लेंगे, उनकी कनकमेखला से उलभी हुई कुरण्टकमाला उनके मध्य-देश को घेरकर ऐसी शोभित हो रही थी मानों कामाग्नि ही प्रदीप्त होकर उनको वलयित किए हैं, उनके प्रदीप्त मुखमण्डल से सिन्दूर और अवीर की छटा विच्छुरित हो जाती थी और उस लाल-लाल कान्ति से अरुणायित कुण्डलपत्र इस प्रकार सुशोभित हुआ करते थे मानो चन्दनद्रुम की सुकुमार लताओं के विलुलित किसलय हों। उनके नीले वासन्ती चित्रक और कौमुभ वस्त्रों के उत्तरीय जब नृत्यवेग से आघूर्णित हो उठते थे तो मालूम पड़ता था कि विश्ववध शृंगार-सागर की चटुल वीचियाँ तरंगित हो उठी हैं। वे मद को

भी मदमत्त बना देती थीं, आनन्द को भी आनन्दित कर देती थीं, नृत्य को भी नचा देती थीं और उत्सव को भी उत्सुक बना देती थीं।' हर्षचरित के चतुर्थ उच्छ्वास में एक ऐसा ही मनोरम वर्णन है। मैं उसका अनुवादित नहीं दे रहा हूँ, केवल उसके वक्तव्य वस्तु और स्थापनपद्धति की ओर इशारा करने के लिये थोड़ी-सी बानगी दे रहा हूँ। इस प्रकार कोई अवसर मिला नहीं कि कवि की कल्पना उत्तेजित हुई नहीं। फिर कहाँ गया इतिहास और कहाँ गई तथ्यों की वह दुनिया जो बार-बार ठोकर मारकर कवि-कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान में बाधा पहुँचाती रहती है। कोई आश्चर्य नहीं कि बाण के समान कल्पकवि ने जिस काव्यरूप को छू दिया वह वहीं अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर समाप्त हो गया। किसकी हिम्मत है कि फिर से उस काव्यरूप को छूकर उसी गरिमा तक पहुँचा सके। यदि आगे चलकर किसी ने हिम्मत की भी तो वह रसिकों का हृदय नहीं जीत सका। बाणभट्ट ने कथा और आख्यायिका की गद्यवाली शैली को अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँचाकर छोड़ दिया। कोशिश करनेवालों ने कोशिश की अवश्य, पर 'न हुआ पर न हुआ मीर का इकवाल नसीब। जौक यारों ने बड़ा जोर गजल में मारा।'

फिर तो गद्य को छोड़ ही दिया गया। लिया भी गया तो पद्यबहुल करके। आगे चलकर चम्पुओं की शैली अधिक लक्ष्मि हो गई। पद्यों में संस्कृत भाषा मँज गई थी, उसका सहारा लेकर कुछ कहना संभव था; पर गद्य को तो बाणभट्ट ने जिस ऊँचाई पर उठा दिया उस तक पहुँचना असंभव हो गया।

प्रकृत प्रसंग ऐतिहासिक काव्यों का है। ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा बाद में खूब चली। इन्हीं दिनों ईरान के साहित्य में भी इस प्रथा का प्रवेश हुआ। उत्तर-पश्चिम सीमान्त से बहुत-सी जातियों का प्रवेश होता रहा। वे राज्य-स्थापन करने में भी समर्थ हुईं। पता नहीं कि उन जातियों की स्वदेशी प्रथा की क्या-क्या बातें इस देश में चलीं। साहित्य में नये-नये काव्यरूपों का प्रवेश इस काल में हुआ अवश्य। सम्भवतः ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर काव्य लिखने या लिखाने की चलन भी उनके संसर्ग का फल हो। परन्तु भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर कम; कल्पनाविलास का अधिक मान था, तथ्यनिरूपण का कम; संभावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम; उल्लसित आनन्द की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिए गए हैं। राजा का विवाह, शत्रुविजय, जलक्रीड़ा, शैल-वन-विहार, दोला-विलास, नृत्य-गान-प्रीति—ये सब बातें ही प्रमुख हो उठी हैं। बाद में क्रमशः इतिहास का अंश कम होता गया और संभावनाओं का जोर बढ़ता गया। राजा के शत्रु होते हैं, युद्ध होता है। इतिहास की दृष्टि में एक युद्ध हुआ, और भी तो हो सकते थे। कवि संभावना को देखेगा। राजा का एकाधिक विवाह होते थे यह तथ्य अनेकों विवाहों की संभावना उत्पन्न करता है, जलक्रीड़ा, और वनविहार की संभावना की ओर संकेत करता है और कवि को अपनी कल्पना के पंख खोल देने का अवसर देता है। उतरका के ऐतिहासिक काव्यों में इसकी भरमार है। ऐतिहासिक विद्वान के लिये संगति मिलाना कठिन हो जाता है।

वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है। जैसे—राम, बुद्ध, कृष्ण आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंघरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल। जायसी के रतनसेन, रासो के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का—फैक्टस् और फिक्शन का—अद्भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत-शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्तिभाण्डार होने में दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रंग में रंगा है। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अन्त तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं। फिर भी निजंघरी कथाओं से वे इस अर्थ में भिन्न थीं कि उनमें बाह्य तथ्यात्मक जगत् से कुछ-न-कुछ योग अवश्य रहता था। कभी-कभी मात्रा में भी कमी-बेशी तो हुआ करती थी पर योग रहता अवश्य था। निजंघरी कथाएँ अपने-आपमें ही परिपूर्ण होती थीं।

जिस प्रकार भारतीय कवि काल्पनिक कथानकों में ऐसी घटनाओं को नहीं आने देता जो दुःख-परक विरोधों को उकसावें उसी प्रकार वह ऐतिहासिक कथानकों में भी करता है। सिद्धान्ततः काव्य में उस वस्तु का आना भारतीय कवि उचित नहीं समझता जो तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करे, दुःखोद्ब्रेचक विषम परिस्थितियों—ट्रेजिक कण्ट्रेडिक्शन्स—की सृष्टि करे; परन्तु वास्तव जीवन में ऐसी बातें होती ही रहती हैं। इसलिये काव्य में भी ऐसी बातें आएँगी ही। बहुत कम कवियों ने ऐसी घटनाओं की उपेक्षा कर जाने की बुद्धि से अपने को मुक्त रखा है। यही कारण है कि इन ऐतिहासिक काव्यों के नाटक को धीरोदात्त बनाने की प्रवृत्ति ही प्रबल हो गई है; परन्तु वास्तविक जीवन के कर्तव्य द्वन्द्व, आत्मविरोध और आत्मप्रतिरोध—जैसी बातें उसमें नहीं आ पातीं। ऐसी बातों के न आने से इतिहास का रस भी नहीं आ पाता और कथानायक कल्पित पात्र की कोटि में आ जाता है। फिर, जीवन में कभी हास्योद्ब्रेचक अनमिल स्वर भी मिल जाते हैं। संस्कृत-काव्य का कर्ता कुछ अधिक गम्भीर रहने में विश्वास करता है और ऐसे प्रसंगों को छोड़ जाता है। और ऐसे प्रसंगों को तो वह भरसक नहीं आने देना चाहता जहाँ कथानायक के नैतिक पतन की सूचना मिलने की आशंका हो। यदि ऐसे प्रसंगों की वह अवतारणा भी करता है तो घटनाओं और परिस्थितियों का ऐसा जाल तानता है जिसमें नायक का कर्तव्य उचितरूप में प्रतिभात हो। सब मिलाकर ऐतिहासिक काव्य काल्पनिक निजंघरी कथानकों पर आश्रित काव्य से बहुत भिन्न नहीं होते। उनसे आप इतिहास के शोध की सामग्री संग्रह कर सकते हैं, पर इतिहास को नहीं पा सकते। इतिहास जो जीवन्त मनुष्य के विकास की जीवनकथा होता है, जो कालप्रवाह से नित्य उदघाटित होते रहनेवाले नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय-यात्रा का चित्र उपस्थित करता है, और जो काल के परदे पर प्रतिफलित होनेवाले नये-नये दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है। भारतीय कवि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र को भी निजंघरी कथानकों की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है। इस कार्य के लिये वह कुछ

ऐसी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग करता है जो कथानक को अभिलषित ढंग से मोड़ देने के लिये दीर्घकाल से भारतवर्ष की निजंघरी कथाओं में स्वीकृत होते आए हैं और कुछ ऐसे विश्वासों का आश्रय लेता है जो इस देश के पुराणों में और लोककथाओं में दीर्घकाल से चले आ रहे हैं। इन कथानक-रूढ़ियों से काव्य में सरसता आती है और घटनाप्रवाह में लोच आ जाती है। मध्यकाल में ये कथानक-रूढ़ियाँ बहुत लोकप्रिय हो गई थीं और हमारे आलोच्य काल में भी इनका प्रभाव बहुत व्यापक रहा है।

संस्कृत में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से संबद्ध काव्यों को 'चरित' 'विलास' 'विजय' आदि नाम दिए गए हैं। सबसे पुराना काव्य तो, जैसा कि पहले ही बताया गया है, 'हर्षचरित' नामक आम्ब्यायिका ही है। इसके बाद पद्मगुप्त का 'नवसाहसार्द्धचरित' (१००० ई० के आसपास) और विल्हण का 'विक्रमाङ्कदेवचरित' नाम के ऐतिहासिक काव्य मिलते हैं। ये दोनों काव्य हमारे आलोच्य काल के आरम्भ के हैं और ऐतिहासिक काव्यों की तत्कालीन परिस्थिति को बताते हैं। विक्रमाङ्कदेवचरित राजकीय विवाहों और युद्धों का काव्य है। राजाओं के गुणानुवाद के लिये उन दिनों ये ही दो विषय उपयुक्त समझे जाने लगे थे। दोनों में ही कल्पना का प्रचुर अवकाश रहता था और सम्भावनाओं की पूरी गुजायश रहती थी। यह वस्तुतः इन स्तुतिमूलक कल्पनाप्रवण काव्यों में इतिहास का केवल सुदूर-स्पर्श मात्र ही है। इतिहास की दृष्टि से कुछ अधिक उपादेय पुस्तक कल्हण की राजतरंगिणी है; लेकिन उसमें भी पौराणिक विश्वासों और निजंघरी कथाओं की कल्पना का गूढ़भङ्ग थोड़ा-बहुत मिल ही जाता है। तंत्र-मंत्र, शकुन-अपशकुन के विश्वासों का सहारा भी लिया ही गया है और प्राचीन गौरव की अनुभूति के कारण घटनाओं में असन्तुलित गुस्त्वारोप हो ही गया है। मानव-कृत्य को इन अतिप्राकृत घटनाओं का नियंत्रित समझने के विश्वास ने इस अपूर्व इतिहास-ग्रंथ को थोड़ा-सा इतिहास के आसन से दूर खड़ा अवश्य कर दिया है; पर सब मिलाकर राजतरंगिणी ऐतिहासिक काव्य है। संध्याकरनंदी का रामचरित एक ही साथ अर्धध्याधिपति श्रीरामचन्द्र का भी अर्थ देता है और बंगाल के रामपाल पर भी घटित होता है। इस प्रकार के कठिन वृत्त को निर्वाह करनेवाले श्लिष्ट काव्य से इतिहास की जितनी आशा की जा सकती है उतनी इससे भी की जा सकती है। यहाँ कवि को रामपाल के जीवन की वास्तविक घटनाओं से कम और श्लेष-निर्वाह से अधिक मतलब है। सोमपाल-विलास जल्हण का लिखा ऐतिहासिक काव्य है। 'जयानक' का लिखा कहा जानेवाला पृथ्वीराजविजय हिन्दीभाषियों के निकट परिचित ही है। इसी पुस्तक की हस्तलिपि के प्राप्त होने से पृथ्वीराजरासो का ऐतिहासिक माहात्म्य धूमिल पड़ गया था और बंगाल की एसियाटिक सोसायटी से प्रकाशित होना बीच ही में बंद हो गया था। इस पुस्तक के बारे में हम आगे विशेष भाव से चर्चा करेंगे। एक और ऐतिहासिक पुस्तक अनन्तपुत्र रुद्र-लिखित 'राष्ट्रौढ़ वंश' बताई जाती है। इन सब पुस्तकों के बारे में एक ही बात सत्य है। इतिहास इनमें कल्पना के आगे म्लान हो गया है और ऐतिहासिक, पौराणिक और निजंघरी घटनाओं के विचित्र और असन्तुलित मिश्रण से इनका ऐतिहासिक रूप एकदम गौण हो गया है। जैन कवि हेमचन्द्राचार्य का लिखा कुमारपालचरित या द्रव्याश्रय काव्य है जिसके २० सर्गों में अनहिलवाड़ के राजाओं के

कुमार चलिबल का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। बाद के आठ सर्ग प्राकृत में कुमारपाल के वर्णन में हैं। गुजरात के चालुक्यों के इतिहास की दृष्टि से पुस्तक बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी और सुरथोत्सव, बालचन्द्र सूरि का वसन्तविलास और जयचन्द्र सूरि का हम्मीरकाव्य ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखयोग्य हैं। अंतिम पुस्तक में ऋतुवर्णन और विहार सुन्दर हैं।

इन ऐतिहासिक काव्यों में 'कीर्तिलता' का स्थान कुछ विशिष्ट है। यद्यपि यह पुस्तक भी आश्रयदाता समसामयिक राजा की कीर्ति गाने के उद्देश्य से ही लिखी गई है और कविजनोचित अलंकृत भाषा में रची गई है तथापि इसमें ऐतिहासिक तथ्य कल्पित घटनाओं या संभावनाओं के द्वारा धूमिल नहीं हो गया है। कीर्ति सिंह का चरित्र बहुत ही स्पष्ट और उज्ज्वल रूप में चित्रित हुआ है। कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नहीं है जो छाया और आलोक के सामञ्जस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाता है; बल्कि उस शिल्पी की टांकी के समान है जो मूर्तियों को भित्तिगात्र में उभार देता है, हम उत्कीर्ण मूर्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा-पूरा अनुभव करते हैं। उस काल के मुसलमानों का, हिन्दुओं का, सामंतों का, शहरों का, लड़ाइयों का, सेना के सिपाहियों का इतना जीवंत और यथार्थ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। कवि ने जो भी सामने आ गया उसका व्योरेत्रार वर्णन करके चित्र को यथार्थ बनाने का प्रयत्न नहीं किया है; बल्कि आवश्यकतानुसार निर्वाचन, चयन और समञ्जस योजना के द्वारा चित्र को पूर्ण और सजीव बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह काव्य इतिहास की सामग्री से निर्मित होकर भी केवल तथ्य-निरूपक पुस्तक नहीं बना है; बल्कि सचमुच काव्य बना है। बहुत कम स्थलों पर कवि ने केवल संभावनाओं को वृहदाकार बनाया है। कीर्ति सिंह का वीररूप भी स्पष्ट हो जाता है और जौनपुर के सुलतान फीरोज शाह के सामने उसका अतिनम्र भक्तिमान् रूप भी प्रकट हुआ है। इन चित्रणों में कवि ने कीर्ति सिंह के द्वितीय रूप को दबाने या उज्ज्वलतर रूप में चित्रित करने का प्रयास नहीं किया; बल्कि ऐतिहासिक तथ्य को इस भाँति रखने का प्रयत्न किया है कि जिस स्थान पर कथानायक भुक्ता है, वहाँ भी वह पाठक की सहानुभूति और परिशंसन का पात्र बना रहता है। छंदों के चुनाव में भी कवि ने कुशलता का परिचय दिया है। तथ्यात्मक विवरण को मोड़ने के साथ-ही-साथ वह छंदों को बदल देता है और पाठक के चित्त में उत्पन्न हो सकनेवाली एकधृष्टता या मोनोटानी को कम कर देता है। सब मिलाकर कीर्तिलता अपने समय का बहुत ही सुंदर चित्र उपस्थित करती है। वह इतिहास का कविदृष्ट जीवन्त रूप है। उसमें न तो काव्य के प्रति पक्षपात है, न इतिहास की उपेक्षा; उसमें यथास्थान पाठक के चित्त में करुणा, सहानुभूति, हास्य, आत्सुक्य और उत्कंठा जागृत करने के विचित्र गुण हैं। इस पुस्तक में उन कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग बहुत कम किया गया है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं में एक ही प्रकार के अभिप्राय ला देती हैं और तथ्यात्मक जगत् से कम संबंध रखकर कल्पना-विलास की ओर पाठक का मन मोड़ दिया करती हैं।

पृथ्वीराजरासो और पद्मावत भी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम के साथ संबद्ध काव्य हैं परन्तु अन्यान्य ऐतिहासिक काव्यों की भाँति मूलतः इनमें भी ऐतिहासिक और निजधरो

कथाओं का मिश्रण रहा होगा। जैसा कि शुरू में ही इशारा किया गया है, ऐतिहासिक चरित का लेखक संभावनाओं पर अधिक बल देता है। संभावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिये कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आए हैं जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक-रूढ़ि में बदल गए हैं। इस विषय में ऐतिहासिक और निजन्धरी कथाओं में विशेष भेद नहीं किया गया। केवल ऐसी बात का ध्यान रखा गया है कि संभावना क्या है। चित्तौर के राजा से सिंधल देश की राजपुत्री का विवाह हुआ था या नहीं, इस ऐतिहासिक तथ्य से कुछ लेना-देना नहीं है; हुआ हो तो बहुत अच्छी बात है, न हुआ हो तो होने की संभावना तो है ही। राजा से राजकुमारी का विवाह नहीं होगा तो किससे होगा? शुक नामक पक्षी थोड़ा-बहुत मानव-वाणी का अनुकरण कर लेता है, और भी तो कर सकता था। जितनी शक्ति उसे प्राप्त है उससे अधिक की संभावना तो है ही। ऋषि के वरदान से वह शक्ति बढ़ सकती है, ऋषि के शाप से पतित गंधर्व यदि सुआ हो गया हो तो पूर्वजन्म के संस्कार उसको कलामर्मज्ञ बना सकते हैं। जब ये संभावनाएँ हैं तो क्यों न उसे सकल शास्त्र-विलक्षण सिद्ध कर दिया जाय। इस प्रकार संभावनापक्ष पर जोर देने के कारण कुछ कथानक-रूढ़ियाँ इस देश में चल पड़ी हैं। कुछ रूढ़ियाँ ये हैं—

(१) कहानी कहनेवाला सुग्गा

(२) i स्वप्न में प्रिय का दर्शन

ii चित्र में देखकर किसी पर मोहित हो जाना

iii भिक्षुओं या बंदियों के मुख से कीर्ति-वर्णन सुनकर प्रेमासक्त होना, इत्यादि

(३) मुनि का शाप

(४) रूप-परिवर्तन

(५) लिंग-परिवर्तन

(६) परकाय-प्रवेश

(७) आकाशवाणी

(८) अभिज्ञान या सहिदानी

(९) परिचारिका का राजा से प्रेम और अन्त में उसका राजकन्या और रानी की बहन के रूप में अभिज्ञान

(१०) नायक का औदार्य

(११) षड् ऋतु और बारहमासा के माध्यम से विरह-वेदना

(१२) हंस-कपोत आदि से संदेश भेजना

(१३) घोड़े का आखेट के समय निर्जन वन में पहुँच जाना, मार्ग भूलना, मानसरोवर पर किसी सुंदरी स्त्री या उसकी मूर्ति का दिखाई देना, फिर प्रेम और प्रयत्न

(१४) विजन वन में सुन्दरियों से साक्षात्कार

(१५) युद्ध करके शत्रु से या मत्त हाथी के आक्रमण से, या कापालिक की वलिवेदी से सुन्दरी स्त्री का छद्म और प्रेम

- (१६) गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और गणिका-माता का तिरस्कार
- (१७) भरण्ड और गरुड आदि के द्वारा प्रिय-युगलों का स्थानान्तरकरण
- (१८) पिपासा और जल की खोज में जाते समय असुर-दर्शन और प्रिया-विधोग
- (१९) ऐसे शहर का मिल जाना जो उजाड़ हो गया हो
- (२०) प्रिया की दोहदकामना की पूर्ति के लिये प्रिय का असाध्यसाधन का संकल्प
- (२१) शत्रु-सन्तापित सरदार को उसकी प्रिया के साथ शरण देना, और फलस्वरूप युद्ध इत्यादि

भारतीय साहित्य के विद्यार्थियों को प्रायः ऐसी कथानक-रूढ़ियों से टकराना पड़ता है। मैंने केवल इशारे के लिये कुछ रूढ़ियों के नाम गिनाए हैं। मेरा उद्देश्य केवल इस बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना है। पद्मावत में इन रूढ़ियों का व्यवहार है, और रासो में तो प्रेम-संबंधी सभी रूढ़ियों का मानो योजनापूर्वक समावेश किया गया है। जो बात मूल लेखक से छूट गई थी उसे प्रक्षेप करके पूरा कर लिया गया है। मैं यहाँ सभी रूढ़ियों के संबंध में चर्चा नहीं करूँगा, करने का समय नहीं है; परन्तु कुछ थोड़ी-सी रूढ़ियों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। भारतीय साहित्य की कथानक-रूढ़ियों के विषय में ब्लूम फील्ड ने अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी के जर्नल की छत्तीसवीं, चालीसवीं, एकतालीसवीं जिल्दों में कई लेख लिखे हैं और पेन्जर ने कथासरित्सागर के नये संस्करण में अनेक महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ दी हैं। इस विषय पर अन्य कई यूरोपियन पंडितों ने भी विशेषभाव से परिश्रम किया है जिनमें डबल्यू० नार्मन ब्राउन का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि वेनिफी नामक जर्मन पंडित की कृतियाँ बहुत पुरानी हो गई हैं तथापि वे इस विषय के जिज्ञासुओं के काम की चीज हैं। साधारणतः इन पंडितों ने निजन्धरी कहानियों के अभिप्रायों के विषय में ही काम किया है; परन्तु उस अध्ययन का उपयोग परवर्ती ऐतिहासिक कथाओं के क्षेत्र में भी उपयोगी है। अस्तु, यहाँ दो-चार रूढ़ियों के बारे में ही कुछ कहने की इच्छा है।

सबसे पहले शुकवाली कथानक-रूढ़ि को लिया जाय।

शुक और सारिका—तोता और मैना—भारतीय परिवार के बहुत पुराने साथी हैं। कथाओं में इनसे तीन काम लिए गए हैं—(१) कथा के कहनेवाले श्रोता के रूप में, (२) कथा की गति को अग्रसर करनेवाले संदेशवाहक या प्रेम-संबंध-घटक के रूप में और (३) कथा के रहस्यों को खोलनेवाले अनपराध भेदिया के रूप में। अन्तिम रूप में सारिका अधिक उपयोगी समझी गई है। बाणभट्ट की कादम्बरी शुक-मुख से कहलवाई गई है और रासो की पूरी कहानी शुक और शुकी—तोता-मैना !—के संवादरूप में कहलवाई गई है। मैंने पिछले व्याख्यान में बताया है कि यह ना-ना-याला संवाद काफी महत्वपूर्ण है और इसके द्वारा हम कथासूत्रों की योजना करके रासो के मूलरूप को पहचान सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि शुक की कथा कहने की शक्तिवाली बात क्रमशः हमारे देश के साहित्य में विशाल रूप ग्रहण करती गई है। शुरु-शुरु में वह काफी सहज-सरल थी। अमरुक के शतक में एक बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक श्लोक आया है—दम्पती ने रात भर प्रेमा-लाप किया, कम्बल शुक सब सुनता रहा। प्रातःकाल सास-जिठानी के सामने ही उसने उन वाक्यों को दुहराना शुरू किया। वधू हैरान ! उसे तुरंत एक युक्ति सूझ गई। कान के

कर्णफूल में पद्मरागमणि का टुकड़ा था । उसे लेकर उसने शुक के सामने रखा और उस वाचाल मूर्ख ने उसे दाड़िम-फल समझकर चोंच मारी । वचन उसका बंद हुआ और अन्तर्जाति-नववधू ने शान्ति की साँस ली :

दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वचः
तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदतः श्रुत्वैव तारं वधूः ।
कर्णालंबितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्च्वाः पुरो
ब्रीडातार्तां प्रकरोति दाड़िमफलव्याजेन वाग्बंधनम् ॥

—अ० श० १६

यहाँ तक तो चल सकता है । परन्तु जब शुक को सकलशास्त्रार्थ का वेत्ता कहा जाता है तो संभावना को जरूरत से ज्यादा घसीटा जाता है । श्रीहर्षदेव की रत्नावली में नायिका के गोपन-प्रेम का रहस्य सारिका खोलती है । उस मुखरा ने नायिका को सखी से कुछ कहते सुन लिया था और उसी का जप शुरू कर दिया था । संयोगवश राजा और विदूषक को वह बात सुनने को मिल गई और कथा के प्रेमव्यापार में गर्मी आ गई । राजा ने ठीक ही कहा था कि प्रिया ने अपनी सखी से जो प्रणय-कथा सुनाई हो उसे शिशु शुक और सारिका के मुख से सुनने का अवसर बड़भागियों को ही मिलता है—

दुर्वारां मदनव्यथां वहन्त्या कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम् ।

तद्भूयः शुकशिशुसारिकाभिरुक्तं धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ॥

शुक का दूसरा रूप है कथा को गति देनेवाला महत्त्वपूर्ण पात्र । पद्मावत में वह यही काम करता है और रासो के दो प्रसंगों में उसे यही काम करना पड़ा है । प्रथम प्रसंग है समुद्रशिखरगढ़ की राजकन्या पद्मावती के साथ पृथ्वीराज के विवाह का संबंध-स्थापन और दूसरा है इच्छिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता के समय इच्छिनी की वियोग-विधुरा अवस्था की सूचना देकर राजा को बड़ी रानी (इच्छिनी) की ओर उन्मुख करना । दोनों ही स्थानों पर सुगो ने महत्त्वपूर्ण कर्म किया है । इनमें पहला तो उस अत्यधिक प्रचलित लोककथानक का स्मारक है जिसका उपयोग जायसी ने भी किया था । इस कथानक में इतिहास खोजने के लिये मूँड़ मारना बेकार है । यह अत्यन्त प्रचलित लोककथा थी । इसे अमुक पुराण से अमुक ने चुराया है, कहकर पौराणिक कथा मानना भी उचित नहीं है । यह दीर्घकाल से प्रचलित भारतीय कथानक-रूढ़ि है । दो या तीन स्थानों पर ही इसका उपयोग नहीं हुआ है, कई स्थानों पर हुआ है । तीसरा भी चिर-प्रचलित कथानक-रूढ़ि है और भिन्न-भिन्न प्रदेशों की लोककथाओं में आज भी खोजा जा सकता है ।

पद्मावतीवाली कहानी पर थोड़ा और भी विचार करना है ।

भारतीय साहित्य में सिंहलदेश की राजकन्या से विवाह के अनेक प्रसंगों की चर्चा आती है । साधारणतः उनमें परिचारिका से प्रेम और बाद में परिचारिका का रानी की बहन के रूप में अभिज्ञान—इस कथानक की रूढ़ि का ही आश्रय लिया जाता है । श्रीहर्षदेव की रत्नावली में इसी रूढ़ि का आश्रय लिया गया है । कौतूहल की लीलावती में भी नायिका सिंहलदेश की राजकन्या ही है, और जायसी के पद्मावत में भी वह सिंहलदेश की ही कन्या है । इन सभी स्थानों पर सिंहल को समुद्र-मध्य-स्थित कोई द्वीप माना गया

है। अपभ्रंश की कथाओं में भी इस सिंहलदेश का समुद्र-स्थित होना पाया जाता है। ऐसी प्रसिद्धि है कि सिंहलदेश की कन्याएँ पद्मिनी जाति की सुलक्षणा होती हैं। जायसी के पद्मावत तक के काल में सिंहल के समुद्र-स्थित होने की चर्चा आती है। परन्तु बाद में सिंहलदेश के संबंध में कुछ गोलमाल हुआ जान पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथ के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे किसी स्त्रीदेश में विलासिता में फँस गये थे, और उनके सुयोग्य शिष्य गोरक्षनाथ ने वहाँ से उनका उद्धार किया था। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' नामक एक परवर्ती ग्रंथ में सिंहल को 'त्रिया-देश' अर्थात् 'स्त्री-देश' कहा गया है। भारतवर्ष में 'स्त्री-देश' नामक एक स्त्रीदेश की ख्याति बहुत प्राचीन काल से है। इसी देश को 'कदलीदेश' और बाद की पुस्तकों में 'कजरीवन' कहा गया है। मैंने अपनी पुस्तक 'नाथ-सम्प्रदाय' में इस स्त्रीदेश और कजरीवन के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। यहाँ प्रासंगिक सिर्फ इतना ही है, कि परवर्ती काल की नाथ-अनुश्रुतियों में सिंहलदेश, त्रिया-देश और कजरीवन को एक दूसरे से उलझा दिया गया है। पद्मावत के समय में भी सिंहलदेश दक्षिण में समझा जाता था। परन्तु कुछ बाद चलकर 'त्रिया-देश' और 'कजरीवन' के साथ उलझा देने के कारण उसे उत्तर में समझा जाने लगा। यह विश्वास किया जाता था कि सिंहल में पद्मिनी नारियाँ हुआ करती थीं, जिनके शरीर से पद्म की सुगंध निकलती रहती है, और जो उत्तम जाति की स्त्री मानी जाती हैं। रासो में पद्मावती के विवाहवाला अध्याय इसी परवर्ती काल के विचारगत उलझन की सूचना देता है। कहानी उसमें वही है, जो पद्मावत में है। परन्तु वहाँ पद्मावती उत्तरदेश की राजकन्या बताई गई है। पुरानी कहानी की स्मृति इसके कुछ शब्दों में जी रही है। जैसे, यह तो नहीं कहा गया कि पद्मावती सिंहलदेश की राजकन्या थी। परन्तु उसके नगर का नाम 'समुद्रशिखर' यह सूचित करता है कि उस देश का सम्बन्ध किसी समय समुद्र से था। फिर उसका राजा विजय सिंह सिंहल के प्रथम राजा विजय सिंह से मिलता-जुलता है, और जादूकुल में संभवः यातुधानकुल की यादगार बची हुई है—

उत्तर दिसि गढ़ गढ़न पति समुद्र शिपर इक दुगग ।

वहँ सुविजय सुरराजपति जादूकुलह अभगग ॥

इस प्रकार यह कहानी सोलहवीं शताब्दी के बाद की लिखी हुई है, और रासो में प्रक्षिप्त हुई है। यह ध्यान देने की बात है, कि जिन विवाहों के सम्बन्धों में शुक्र और शुकी का संवाद मिलता है, उनसे यह भिन्न है, और यह भी ध्यान देने की बात है कि बीकानेर की फोर्ट लाइब्रेरी में रासो की जो छोटी प्रति सुरक्षित बताई जाती है उसमें भी यह कहानी नहीं है। कथानक-रूढ़ियों का विचार किए बिना जो लोग रासो या पद्मावत की ऐतिहासिकता या अनैतिहासिकता की जाँच करने लगते हैं, वे भ्रान्त मार्ग का अनुसरण करते हैं। पद्मावती की कहानी इस बात की स्पष्ट सूचना देती है।

शुक्र और शुकी के वार्तालापरूप में प्रथम विवाह इच्छिनी का है। दूसरा विवाह शशिप्रता का और तीसरा संयोगिता का है। तीनों विवाह सरस बने हैं और सुकविरचित जान पड़ते हैं।

इच्छिनी के विवाह के प्रसंग में तीन घटनाएँ उल्लेखयोग्य हैं जो शुक-शुकी के प्रश्नोत्तर के रूप में आई हैं। पहली बात है भीम भोरंग के साथ पृथ्वीराज के वैर का कारण। भीम के सात चचेरे भाई जो उसके राज्य में उपद्रव मचाने लगे थे, भीम के प्रताप से भयभीत होकर पृथ्वीराज की शरण आए, पर पृथ्वीराज के एक प्रिय सामन्त कन्ह से उनकी लड़ाई हो गई और वे मारे गए। इसपर भीमराव असन्तुष्ट हुआ। दूसरी बात है भीम का इच्छिनी से विवाह की इच्छा। इच्छिनी की बड़ी बहन मंदोदरी से उसका विवाह पहले ही हो चुका था। छोटी बहन को बड़ी पत्नी की सौत के रूप में पाने का प्रयत्न अच्छा नहीं था। सलष अपनी छोटी लड़की को और उसका पुत्र जैत अपनी बहन को, इस प्रकार ब्याहने के विरुद्ध थे। उन्होंने भीम से रक्षा पाने के उद्देश्य से ही पृथ्वीराज की शरण ली। लड़ाइयाँ हुई—रासो में होती ही रहती हैं—शहाबुद्दीन भी भीम के कहने से, किन्तु भीम को बरबाद कर देने की इच्छा के साथ, चढ़ आया—वह भी रासो में जब-तब आ ही घमकता है—और इच्छिनी से पृथ्वीराज का विवाह हुआ। आगे तीसरी घटना है बारात का वर्णन और इच्छिनी का नख-सख (नख-शिख) वर्णन। इस विवाह में कवि ने किसी प्रकार की कथानक-रूढ़ि का आश्रय नहीं लिया है फिर भी और विवाहों से यह विशिष्ट है। इसमें इच्छिनी का सौन्दर्य बहुत ही सुन्दर रूप में बिखरकर प्रकट हुआ है, जो प्रधानतः कवि-समय के अनुसार ही है—

नयन सुकज्जल रेप तप्पि निष्कल छवि कारिय ।
श्रवणन सहज कटाछ चित्त कर्पन नर नारिय ।
भुज मृनाल कर कमल उरज अंबुज कलिय कल ।
जंघ रंभ कटि सिंघ गमन दुति हंस करी छल ।
देव अरु जप्पि नागिनि नरिय गरहि गर्व दिष्टत नयन
इच्छिनी अंखि लज्जा सहज कितक सक्ति कविय वयन । १४-१५६

सो, यह विवाह झगड़ों और लड़ाइयों के बावजूद सहज विवाह है। इसके पहले और बाद में पटापट दो विवाह और हुए हैं; पर उनमें कवि का मन रमा नहीं है। स्पष्ट ही लगता है कि वे मूल रासो के विवाह नहीं हैं। इच्छिनी का विवाह ही शायद मूल रासो का प्रथम विवाह है। बाकी दो विवाहों का वैशिष्ट्य दिखाने के लिये ही कवि ने इस सहज विवाह की पृष्ठभूमि तैयार की है। इस सहज विवाह की सहज शोभा का कवि ने बार-बार उल्लेख किया है—

धन धुंमि घुम्मार हेम । कवि कहो ओपम एक ॥
मनों कमल सौरभ काज । प्रति प्रीत भमर विराज ॥
कह कहौ अंग सुरंग । रति भूलि देखि अनंग ॥
लपि लच्छि पूर सहज । चित्त वृत्त मानों रज ॥
सो सलष राजकुंवारि । नृप लही ब्रह्म सँवार ॥
इन लच्छि इछनिय रूप । कुल वधू लच्छिछन रूप ॥
रति रूप रमनिय रजि । छवि सरल दुति तन सजि ॥
रसि रसित रंगह राज । तिह रमन दुश्प्र प्रथिराज ॥

अगले विवाह में कवि ने जमके कथानक-रूढ़ियों का सहारा लिया है। राजा का नट के मुख से यादवराज-कन्या शशिव्रता के रूप की प्रशंसा सुनना और आसक्त होना, यह जानना कि उज्जैन के कामध्वज राजा को सगाई भेजी गई है, पर कन्या उसे नहीं चाहती, कन्या-प्राप्ति के लिये शिवपूजन और शिवजी का स्वप्न में मन-रथ-सिद्धि के लिये वरदान—ये पुरुष-राग के चिराचरित भारतीय कथानक-रूढ़ियाँ हैं। कवि ने इन्हें निपुणता के साथ उपस्थित किया है। फिर पृथ्वीराज भिन्न-भिन्न ऋतुओं में मन्मथ-पीड़ा से व्याकुल होता है—यहाँ भी वही बात है। कवि ने इस बहाने बड़ा ही सुंदर ऋतु-वर्णन किया है—

मोर सोर चहुँ ओर घटा आसाढ़ बंधि नभ ।
वच दादुर किंगुरन रतत चातिग रंजत सुभ ।
नील बरन वसुमतिथ पहिर आभ्रन अलङ्किय ।
चंद वधू सिव्यंद धरे वसुमत्तिसु रज्जिय ।
बरपंत बूंद घन मेघसर तब सुभौग जद्व कुँअरि ।
नन हंस धीर धीरज सुतन इप फुट्टे मन मत्थ करि । २५-६५

और फिर,

घन घटा बधि तम मेघ छाये । दामिनिय दमकि जामिनिय जाये ।
बोलंत मोर गिरवर सुहाय । चातिग रतत चिहुँ ओर छाई । इत्यादि

यह विरहवर्णन साधारणतः वाह्यवस्तु-प्रधान है। विरह में जिस प्रकार का हृदय-राग चित्रण होना चाहिए था वैसा इसमें नहीं है। अस्तु।

जिस प्रकार नैषधचरित के नल की भाँति नटमुख से प्रिया के गुण सुनकर पृथ्वीराज व्याकुल हो उठा, उसी प्रकार एक हंस की भी कल्पना की गई है। यहाँ आकर मालूम हुआ कि सगाई जयचंद के भतीजे वीरचंद से होने जा रही थी। किसी गंधर्व ने यह बात सुन ली और वह हंस बनकर शशिव्रता के पास पहुँचा। नैषध के हंस की भाँति यह भी सोने का ही था। शशिव्रता के पूर्वजन्म में चित्ररेखा नामक अप्सरा होने की बात हंस ने उसे बताई। अप्सरा का सुंदरी कन्या के रूप में अवतार पृथ्वीराजरासो का प्रिय विषय है। संयोगिता भी अप्सरा का ही अवतार थी। 'पृथ्वीराजविजय' के अन्त में कहानी आई है कि पृथ्वीराज अपनी चित्रशाला में अप्सरा का चित्र देखकर मुग्ध हुए थे। कथा का भुकाव जिस प्रकार का है उससे पता चलता है कि वह अप्सरा किसी-न-किसी रूप में पृथ्वीराज को मिली होगी। दुर्भाग्यवश वह काव्य आधा ही प्राप्त हुआ है और यह नहीं पता चला कि वह अप्सरा पृथ्वीराज को किस रूप में मिली। पर जान पड़ता है कि अप्सरावाले विश्वास का पृथ्वीराज के वास्तविक जीवन से कोई संबंध है। जो हो, गंधर्व (हंस) शशिव्रता को पृथ्वीराज की ओर उन्मुख करता है। वीरचंद तो अभी साल भर का बच्चा था। अप्सरावतार युवती शशिव्रता को उससे विमुख करने में हंस को विशेष श्रम नहीं पड़ा। शशिव्रता के मन में प्रेमांकुर उत्पन्न करके वह दिल्ली गया। यही उचित था। यही स्वाभाविक भी। पृथ्वीराज ने उसे पकड़ा। नल ने भी ऐसा ही किया था। प्रेम गाढ़ होता है पृथ्वीराज की ओर से भी और शशिव्रता की ओर से भी। हंस ने शशिव्रता का रूप-गुण वर्णन किया, चित्ररेखा

क' अवतार होना बताया और एक नई बात यह बताई कि शशिव्रता ने गान सिखानेवाली अपनी शिक्षयित्री चन्द्रिका से पृथ्वीराज का गुण सुनकर आकृष्ट हुई है। पृथ्वीराज भी नट से सुनके आकृष्ट हुआ था, शशिव्रता भी गायिका के मुख से सुनकर आकृष्ट हुई थी—दोनों ओर गुण-श्रवण-जन्य आकर्षण है। यह भी भारतीय कथानक-रूढ़ि है, पर कहानी नैषधचरित के समानान्तर हो गई है। पृथ्वीराज के प्रेम का समानान्तर दूसरी घटना है शशिव्रता का भी शिवपूजन। हंस संकेत करता है कि रुक्मिणी को जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने हरा उसी प्रकार तुम हरो। कन्याहरण का यह 'अभिप्राय' भी बहुत पुराना है। रासो में पद्मावती ने भी पृथ्वीराज को उसी प्रकार वरा था 'ज्यों रुक्मिणि कन्हर वरिय।' और संयोगिता को भी लगभग इसी पद्धति से हरा गया था। रासोकार को यह अभिप्राय अत्यन्त प्रिय है।

अब कहानी नल के आदर्श पर नहीं चलकर श्रीकृष्ण के आदर्श पर चलने लगी। परन्तु शशिव्रता के पिता ने ही पृथ्वीराज को लिखा कि शिवजी की पूजा के लिये शशिव्रता जाएगी और वहीं मिलेगी। पुत्री की दृढ़ता और व्रत से पिता का हृदय पसीज गया था। मंदिर में पूजा के बहाने आई हुई कन्या का हरण पुराना भारतीय 'अभिप्राय' है, जो कथानक-रूढ़ि के रूप में ही बाद के साहित्य में जम बैठा है। पद्मावत में भी यह 'अभिप्राय' है। पर वहाँ पद्मावती अपने मन में अच्छी तरह जानती हुई जाती है कि वहाँ रतनसेन आनेवाला है। शशिव्रता को यह नहीं मालूम। जायसी की तुलना में यहाँ चन्द अधिक सफल है। रासोकार ने अन्तर्वृत्तियों के द्वन्द्व दिखाने में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। रामचरितमानस की सीता को भी गौरीपूजन के प्रसंग में रामचन्द्रजी का अचानक दर्शन हो गया, पर वहाँ पूर्वाग उस सीमातक नहीं पहुँचा था जिस सीमातक शशिव्रता और पृथ्वीराज का पूर्वाग—अवश्य ही साक्षात् दर्शन अभी भी बाकी था!—पहुँच चुका था। सखी ने शशिव्रता को दिखाया—वह देखो, जिसे चाहती हो वह आ गया! आँखें चार हुईं और

कर्न प्रयंत कटाछु सुरंग विराजही
कछु पुच्छन कों जांहि पै पुच्छय लाजहीं
नैन सैन में बात खवनन सो कहैं
काम किंधों प्रथिराज भेद करि ना लहैं । ४२-२६०

शशिव्रता मंदिर की ओर बढ़ी। ५०० सखियाँ उसे घेरे थीं। कान्यकुब्जेश्वर की सेना डटी हुई थी। मंदिर में फिर पृथ्वीराज की आँखों से आँखें मिलीं। सुकुमार-लज्जा-भार-भरिता शशिव्रता की वह शोभा देखने ही लायक थी। पृथ्वीराज ने उसकी बाँह पकड़ी मानों गजराज ने लहराकर आई हुई काञ्चनलता को पकड़ लिया हो—

चौहान हृथ्य बाला गहिय सो ओपम कवि चंद कहि ।
मानो की लता कंचन लहरि मत्त वीर गजराज गहि ॥

यह बिल्कुल अप्रत्याशित बात थी। शशिव्रता इसके लिये बिल्कुल तैयार नहीं थी। उसकी आँखों में आँसू आ गए। उधर सेनाएँ डटी हुई थीं। एक ही साथ राजा पृथ्वीराज के हृदय में रौद्र, शशिव्रता के मन में करुण, वीरों के मन में सुभट-भतिजन्य उत्साह, सखियों के

मन में हास, अरिदल के हृदय में बीभत्स और कमधज्ज के हृदय में भयानक रस का संचार हुआ—

नृप भयो रुद्ध, करुता सुत्रिय, वीरभोग वर सुभट गति ।

संगियन सुहास बीभच्छ रिन भय भयान कमधज्ज दुति ॥

फिर युद्ध युद्ध युद्ध ! अन्त में शशिप्रता ने प्रस्ताव किया कि दिल्ली चलिए । शशिप्रता यहाँ अत्यन्त कोमल पतिपरायणा स्त्री के रूप में दिखाई पड़ती है । सब मिलाकर यह कथा रासोकार की कवित्वशक्ति का परिचायक है । इसमें उसने प्रेम कथानकों की अनेक काव्य-रुद्धियों का प्रयोग किया है । उसे सफलता भी मिली है ।

संयोगिता का स्वयंवर विशुद्ध कवि-कल्पना है । ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी प्रामाणिकता पर कई बार सन्देह प्रकट किया गया है । जयचंद की किसी पुत्री से पृथ्वीराज का विवाह हुआ था या नहीं, यह सन्दिग्ध ही है । कहा जाता है कि ऐतिहासिकता के लिये प्रमाण मानी जाने योग्य प्रशस्तियों में या मुसलमान ऐतिहासिकों के विवरणों में तो इसका कोई उल्लेख है ही नहीं । चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के जैन प्रवन्धों में भी इसकी चर्चा नहीं है । पृथ्वीराजविजय अधूरा ही मिला है । उसके उपलब्ध अन्तिम हिस्से में चित्रशाला में पृथ्वीराज एक अप्सरा की मूर्ति देखकर प्रेमातुर होता है । यह पता नहीं चलता कि आगे क्या हुआ, पर कथा के झुकाव से अनुमान होता है कि किसी ऐसे ही प्रेम-विवाह की ओर कवि कथा को ले जाना चाहता है जैसा रासो के कवि ने वर्णन किया है । उन दिनों स्वयंवर-प्रथा वास्तविक जगत् में समाप्त हो गई थी; पर कवियों की कल्पना की दुनिया से ऐसी बात लोप नहीं हुई थी । इस काल के कुछ थोड़ा पहले सन् ११२५ ई० में विल्हण ने विक्रमाङ्कचरित में बहुत टीमटाम के साथ एक स्वयंवर का वर्णन किया है । विल्हण चालुक्य राजा विक्रमादित्य के प्रताप का वर्णन करता है । कर्णाट देश के शिलाहारकुल की राजकन्या चन्द्रलेखा रूप और गुण में इतनी उत्तम और विख्यात थी कि राजतरंगिणी के समान प्रसिद्धि मिलनेवाले काव्य के लेखक कल्हण ने भी लिखा है कि काश्मीर का राजा हर्ष उसे प्राप्त करने की इच्छा से कर्णाट पर चढ़ाई करने की सोच रहा था । उस राजकन्या का स्वयंवर हुआ और वह सर्वसौन्दर्यनिधि राजकन्या विल्हण के आश्रयदाता राजा विक्रमादित्य के अतिरिक्त और किसे वरण कर सकती थी ? ऐतिहासिक विद्वान् इस घटना को कवि-कल्पना ही मानते हैं । इससे केवल इतना ही सूचित होता है कि कवियों की दुनिया से स्वयंवर-जैसी मनोमोहक प्रथा समाप्त नहीं हुई थी । पृथ्वीराज-विजय के लेखक ने भी किसी ऐसे आयोजन की कल्पना की हो तो कुछ आश्चर्य नहीं है । राजतरंगिणी के लेखक ने भी कविजनोचित भाषा में हर्ष के प्रेमोद्रेक का कारण चित्रदर्शन ही बताया है और पृथ्वीराज-विजय के कवि के मन में भी कुछ ऐसी ही बात है—

१. कर्णाटभर्तुः पर्माद्रेः सुन्दरीं चन्दलाभिधाम् ।

आलेख्यलिखितां वीक्ष्य सोऽभूत् पुष्पायुधाहतः ॥

स विदोद्रेचितो वीतन्नपश्चक्र सभान्तरे ।

प्रतिज्ञां चन्दलावाप्यै पर्माद्रेश्च विलोडने ॥

राजतरंगिणी, ७.११२४

हृदये लिखितां पुरः स्थितादपि चित्राद्रुचिरां ददर्श यत् ।

अविदत् परमार्थतस्ततः स मनोराज्यमनोतिशायिनीम् ॥१२.२५॥

इसलिये घटना ऐतिहासिक हो या न हो, रासो के कवि की कल्पना में इसका आविर्भाव वश्य हुआ था। संयोगिता की प्राप्ति ही रासो का चरम उद्देश्य जान पड़ता है। शेष इसमें भी है पर कवि ने इसे लिखने में बड़ा मनोयोग दिया है।

इस प्रसंग में कवि को ऋतुवर्णन करने का अच्छा बहाना मिल गया है। बहाना तो खोजना ही पड़ता है। संदेशरासक के कवि ने भी एक सुन्दर बहाना खोजा है। वहाँ विरहिणी का संदेश ले जानेवाला पथिक बार-बार जाने को उत्सुक होता है, पर उस विचारी का दुःख देखकर रुक जाता है और पूछता है कि तुम्हें और भी कुछ कहना है? कहना तो उसे है ही। प्रसंग बढ़ता जाता है। अन्त में पथिक पूछता है कि कब से तुम्हारा यह हाल है? फिर एक-एक करके ऋतुवर्णन चलने लगता है। रासो में पृथ्वीराज जयचंद का यज्ञ विध्वंस करने और संयोगिता को हर लाने की इच्छा से घर से निकलना चाहते हैं। यह कोई नई बात नहीं है। पृथ्वीराज तो बाहर जाते ही रहते हैं, लड़ना तो उनका स्वभाव ही है और कन्याहरण और विवाह भी नया नहीं होने जा रहा है। फिर भी कवि यहाँ रुकता है। पृथ्वीराज हर रानी के पास विदा लेने जाते हैं और जिस ऋतु में जाते हैं उसका मनोरम वर्णन सुनके रुक जाते हैं। वसन्त ऋतु में वे इच्छिनी के पास जाते हैं पर अनुमति नहीं मिलती। इच्छिनी उन्हें समझाती हैं कि इस ऋतु में कोई भला आदमी बाहर जाता है? जब आम बौरा गए हों, कदंब फूल चुके हों, रात की दीर्घता में कोई कमी न आई हो, भँवरे भावमत्त होकर भ्रूम रहे हों, मकरन्द की झड़ी लगी हुई हो, मंद-मंद पवन विरहाग्नि को सुलगाने में लगी हो, कोकिल कूक रहे हों और किसलयरूपी राक्षस प्रीति की आग लगा रहे हों, तब कैसे कोई युवती रमणी अपने प्रिय को बाहर जाने की अनुमति दे सकती है? इच्छिनी ने पैरों पड़के विनय किया कि हे प्राणनाथ, इस ऋतु में बाहर मत जाओ—

मवरि श्रंब फुल्लिग कदंब रयनी दिध दीसं ।

भँवर भाव भुल्लै भ्रमन्त मकरन्द बरीसं ॥

बहत बात उज्जलति मौर अति विरह अग्नि किय ।

कुहकुहन्त कलकंठ पत्र-रापस अति अगिगय ॥

पय लगिग प्रानपति बीनवौं नाह नेह सुभू चित धरहु ।

दिन-दिन अवद्धि जुबन घटय कन्त वसंत न गम करहु ॥

पृथ्वीराज ऐसे दो-चार पद्य सुनने के बाद वसन्त भर वही रुक गए। फिर ग्रीष्म आया—प्रचण्ड ग्रीष्म। उस समय वे पुण्डरीनी रानी से विदा लेने गए। वही कैसे छेड़ती? भला, यह भी कोई बाहर जाने का समय है—उत्तप्त वायु बह रही हो, तरुणी का क्षीण शरीर ताप से दग्ध हो रहा हो, चारों दिशाएँ धधक उठी हों, क्षण भर के लिये भी कहीं ठंड का अनुभव न होता हो, ज्वलंत पानी पीने को मिलता हो, खून सूख रहा हो, राह चलना कठिन हो रहा हो, दिन-रात गर्मी की ज्वाला से काया क्लेशापन्न हो उठी हो—इस प्रकार के समय में तो कन्त को कभी बाहर नहीं जाना चाहिए, संपत्ति हो या विपत्ति!!—

धीन तरुनि तन तपै बहै नित बाव रयन दिन ।
 दिसि चार्यों परजलै नहि कहौ सीत अरध पिन ।
 जल जलंत पीवंत रुहिर निसिवासर घट्टै ।
 कठिन पंथ काया कलेस दिन रयनि संघट्टै ।
 त्रिय लहै तत्त अग्यर कहै गुनियन ग्रब न मंडियै ।
 सुनि कंत सुमति संपति विपति ग्रीपम ग्रेह न छुडियै ॥

सो, पृथ्वीराज यहाँ भी एक ऋतु तक रुके रहे। वर्षाकाल में इन्द्रावती से विदा लेने गए। वही कैसे छोड़ती भला ? विशेष करके जब बादल घहरा रहे हों, एक-एक क्षण पहाड़ बने हुए हों, सजल सरोवरों को देखकर सौभाग्यवतियों के हृदय फटे जा रहे हों, बादल जल से सींच-सींचकर प्रेमलता को पलुहा रहे हों, कोकिलों के स्वर के साथ प्रेम के देवता अपना बाण संधान कर रहे हों, दादुर, मोर, दामिनी, चातक, सब-के-सब दुश्मनी पर उतारू हो आए हों तो प्रिय को कैसे जाने दिया जा सकता है ? —

घन गरजै घरहरै पलक निस रैन निघट्टै ।
 सजल सरोवर पिण्य हियौ ततछन घन फट्टै ।
 जल बदल बरपंत पेम पल्लहौ निरन्तर ।
 कोकिल सुर उच्चरै अंग पहरंत पंचसर ॥
 दादुरह मोर दामिनि दसय अरि चवत्थ चातक रटय ।
 पावस प्रवेस बालम न चलि विरह अगिनि तन तप घटय ॥
 घुमड़ि घोर घन गरजि करत आडंबर अंबर ।
 पूरत जलधर धसत धार पथ पथिक दिगंबर ।
 भ्रूकित द्विग सिसु त्रिग समान दमकत दामिनि द्रसि ।
 विहरत चात्रग चुवत पीय दुष्पंत समं निसि ।
 ग्रीपम्भ विरह द्रुमलतातन परिरंभन क्रत सेन हरि ।
 सज्जन्त काम निसि पंचसर पावस पिय न प्रवास करि ॥

इस ऋतु का वर्णन कवि ने प्राण ढालकर किया है—

द्विग भरित धूमिल जुरति भूमिल कुमुद त्रिम्भल सोभिलं ।
 द्रुम अंग वल्लिय सीस हल्लिय कुरलि कंठह कोकिलं ।
 कुसुमंज कुंज सरीर सुम्भर सलित दुम्भर सहयं ।
 नद रोर ददुर मोर नदुर बनसि बहुरि बहयं ।
 भ्रम भ्रमकि विज्जल काम किज्जल श्रवनि सज्जल कहयं ।
 पप्पीह चीहति जीह जंजरि मोर मंजरि महयं ।
 जगमगति भिगन निसि सुरंगन भय अभय निसि हहयं ।
 मिति हंस हंसि सुवास सुंदरि उरसि आनन मिहयं ॥

सो, चंदवरदाई का यह वर्षावर्णन भाषा और भाव—ध्वनि और बिंब—दोनों ही दृष्टियों से बहुत उत्तम हुआ है। अनुकूल ध्वनियों का ऐसा समंजस विधान है कि देखते

ही बनता है। चंद इस कला में निपुण है। बल्कि यह कहना चाहिए कि वे इस कला में ज़रूरत से ज्यादा महारत हासिल कर चुके हैं। युद्ध के प्रसंगों में तो वे लाठी लेकर शब्दों को पीट-पीटकर इस योग्य बनाते हैं कि वे युद्ध की ध्वनि उत्पन्न कर सकें। यदि किसी का हाथ-पैर टूट जाय तो उन्हें कोई परवाह नहीं। इस ऋतुवर्णन के प्रसंग में इतनी दूर तक शासन से काम नहीं लेते। थोड़ा तो लेते ही हैं। शरद, हेमन्त और शिशिर भी इसी प्रकार एक-एक रानी के पास बीत जाते हैं, पृथ्वीराज का जाना नहीं होता। अन्त में वे चंद की शरण जाते हैं—

पट् रित बारह मास गय फिरि आयौ रु वसंत ।

सो रित चंद बताउ सुँहि, तिया न भावै कंत ॥

चंद ने 'ऋतु' शब्द को पकड़ लिया। उसी पर श्लेष करते हुए उत्तर दिया—

रोस भरै उर कामिनी, होइ मलिन सिर अंग ।

उहि रिति त्रिया न भावई, सुनि लुहान चतुरंग ॥

और यह प्रसंग समाप्त होता है।

यह ऋतुवर्णन मिलनजन्य आनंद में उद्दीपना का संचार करता है। शशिप्रता-विवाह के प्रसंग में विरहजन्य दुःखबोध को गाढ़ बनाने के लिये ऋतुवर्णन का सहारा लिया गया है। इस काल के कवि अद्दुहमाण (अब्दुल रहमान ?) के संदेशरासक और ढोला-मारू के दोहों में विरहदशा की अनुभूतियों के वर्णन का प्रयत्न है। कुछ थोड़ा परवर्ती काल के कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने विरह-वेदना की अनुभूतियों को दिखाने के उद्देश्य से ऋतुवर्णन लिखा है। संदेशरासक में कवि ने जिस बाह्य प्रकृति के व्यापारों का वर्णन किया है वह रासो के समान ही कविप्रथा के अनुसार है। उन दिनों ऋतुवर्णन के प्रसंग में वर्षा वस्तुओं की सूची बन गई थी। बारहवीं शताब्दी की पुस्तक कविकल्पलता में और चौदहवीं शताब्दी की पुस्तक वर्णरत्नाकर में ये नुस्खे पाए जा सकते हैं। इन बाह्य वस्तु और व्यापारों के आगे न तो रासो का कवि गया है, न अद्दुहमाण ही। फिर भी जायसी की भाँति अद्दुहमाण के नाद-गन-नूना अलंकार और आह्वयवस्तु-निरूपक वर्णन बाह्यवस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह-कातर मनुष्य के (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करता है। उसी में यह बात इस मात्रा में नहीं मिलती। संदेशरासक का पद्य बाह्य वस्तुओं की पूर्ण चित्रयोजना इस कौशल से करता है कि उससे विरहिणी के व्यथा-कातर सहानुभूति-सम्पन्न कोमल हृदय की मर्मवेदना ही मुखर हो उठती है। वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो, व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्मवेदना की ही होती है। तुलना के लिये एक वर्षावर्णन का प्रसंग ही लिया जाय। विरह-कातरा प्रिया किसी पथिक से अपने प्रिय के संदेशा भेजती है। वह मेघों का समय है। दसों दिशाओं में बादल छाए हुए हैं, रह-रहके घहरा उठते हैं, आकाश में विद्युल्लता चमक रही है, कड़क रही है, दादुरों की ध्वनि चारों ओर व्याप्त हो रही है—धारासार वर्षा एक क्षण के लिये भी

नहीं रुकती । इस कविप्रथा-सिद्ध वर्णा का वर्णन करते-करते विरहिणी कातरभाव से कह उठती है—हाय पथिक, पहाड़ की चोटियों पर से उसने (प्रिय ने) यह सब कैसे सहा होगा ?—

भंपवि तम बहलिण दसह दिसि छायाउ अंबरु ।
उन्नवियउ घुरहुरइं घोर घणु किसयाडंबरु ।
एहह मगिग एहवल्लिय तरल तडयडिवि तडकइ ।
दहुर रउणु रउहु सहु कुवि सहवि ए सकइ ।
निबड निरन्तर नीरहर दुद्धर धर धारोह भरु ।
किम सहउ पहिय सिहरट्टियइ दुसहउ कोइल रसह सरु ।

—(संदेशरासक)

इससे विरह-कातरा प्रिया का अत्यन्त कोमल और प्रीति-परायण हृदय ही ध्वनित हुआ है । वाह्य प्रकृति तो उसके सहानुभूतिमय प्रेम-परायण हृदय को दिखा देने का साधन भर है । रासो के वर्णनों में यह बात नहीं आने पाई है फिर भी वे वाह्य प्रकृति के सरस चित्र उपस्थित करते हैं । ध्वनियों और रंगों के सामंजस्य से रासो के चित्र खिल उठे हैं । अस्तु ।

सो, इस प्रसंग में कवि ने विरह के समय ऋतुवर्णन की प्रथा को न अपनाकर संयोग-कालीन उद्दीपक ऋतुवर्णन की पुरानी प्रथा को ही अपनाया है । यद्यपि वर्ण्य विषयों की योजना में कोई नवीनता नहीं है, वे तत्काल-प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार ही हैं तथापि उनमें अपना सौंदर्य है । वे पाठक को आकृष्ट करते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार राजपूत-चित्र रूढ़िबद्ध होने पर भी दर्शक को विह्वल बनाते हैं । शब्दचयन की अद्भुत शक्ति ने चंद के काव्य को अपूर्व शोभा प्रदान की है । इन मधुर-मोहन छंदों को पढ़ने के बाद रासो के अन्य प्रसंगों की ऊबड़-खाबड़ बेठौर-ठिकाने की भाषा के विषय में सन्देह होना उचित ही है । कहाँ यह सुंदर शब्दयोजना, गंभीर ध्वनिमान्दय और कहाँ द्वित्व और अनुस्वारों के सहारे बेमतलब खड़ी की गई बेतरतीब शब्दों की पलटन । एक बार दिखती है कथाकार की अद्भुत योजनाशक्ति, कथा का घुमाव पहचानने की अपूर्व क्षमता, भावों का उतार-चढ़ाव चित्रित करने की मोहक भंगिमा और फिर दिखता है लड़नेवाले सरदारों की नामावली बताने की आतुरता, हथियारों के लक्षण और हिसाब बताने की उतावली, कवि चंद की सिद्धियों की महिमा बखानने की उमंग और कथा को बेमतलब बोझिल और लस्टम-पस्टम बनाने की निर्वुद्धिक योजना ! रासो विचित्र मिश्रण है । खैर !

इसके बाद राजा कन्नौज के लिये प्रस्थान करते हैं । कवि को अनेक शकुनों और फलों के वर्णन का अवसर मिलता है । इस काल में शकुन पर पूरा विश्वास किया जाता था और शकुनों का यहाँ विस्तारपूर्ण वर्णन अपेक्षित ही है । बाद में पृथ्वीराज और उनके साथी वेश बदलकर कन्नौज पहुँचते हैं । कन्नौज का सुन्दर वर्णन दिया गया है । और जयचंद की दासियों को गंगा में जल भरते देख कवि को नारी-सौंदर्य के मोहक वर्णन का बहाना मिल जाता है—

द्रिग चंचल चंचल तरुनि, चितवत चिंत हरंति ।

कंचन कलस भूकोरि कै, सुंदरि नीर भरंति ॥ ६१-३३८

इसके बाद दासियों के नख-शिख-सौंदर्य का वर्णन चिराचरित कविप्रथा के अनुसार होने लगता है । फिर जरा कतराकर कवि कन्नौज नगर की सुन्दरियों की शोभा का भी लगे हाथों उद्धार कर देता है । दासियाँ अभी पानी भर ही रही हैं । उनका घूँघट अचानक जरा सरका और सामने रूप और शोभा के अगाध समुद्र दिल्ली-नरेश दिख गए । सोने का घड़ा हाथ में जो पड़ा था सो पड़ा ही रह गया, घूँघट छूटा सो छूट ही गया, वाग्रोध हो गया, वक्षःस्थल के तटदेश पर पसीना झलक आया, ओठ काँप गए, आँखों में पानी भर आया, जड़िमा और आलस्य के लक्षण जूँभा और स्वेद प्रकट हो गए, गति शिथिल हो गई—सात्त्विक विकारों से ससाध्वसा वह सुंदरी भाग गई । भागते-भागते भी पृथ्वीराज को निहारती गई, खाली घड़ा गंगा के तट पर पड़ा रहा गया—

दरस त्रियन दिल्ली नृपति सोबन घट पर हृथ ।

वर घूँघट छुटि पट्ट गौ सटपट परि मनमथ ।

सटपट परि मनमथ भेद वच कुचतट स्वेद ।

उष्ट कंफ जल द्रगन लगि जंभायत भेद ।

सिथिल सुगति लज्जि भगति गलत पुंडरि तन सरसी ।

निकट निजल घट तजै मुहर मुहरं पति दरसी ॥ ६२-३७०

कवि भावी रोमांस का बीज यहीं बो देता है । इसके बाद नगर का, किले का, सेना का, दरबार का और अन्य बातों का वर्णन करने का बहाना खोज निकालता है । एक बहुत ही मजेदार प्रसंग कवि चंद का राजा जयचंद्र के दरबार में जाना है । जयचंद्र के दरबार में कोई दसोंधी कवि थे । ये संभवतः वर्तमान जसोंधी जाति के हैं जो आज भी कड़खे और नाजि कहनेवाले जोगवरो की जाति हैं, या यह भी हो सकता है कि इस नाम का कोई कवि रहा हो और आज के जसोंधी अपने इसी पूर्वपुरुष के नाम पर अपना परिचय दिया करते हैं । दसोंधियों और चंद के वार्तालाप से चंद की सर्वज्ञता का परिचय मिलता है । चन्द अदृष्ट बातों का—जिनमें स्वयं राजा जयचंद्र और उसके दरबार की तात्कालिक अवस्था भी शामिल है—वर्णन करता है और इस प्रकार कवि चंद दरबार में प्रवेश करने का अधिकार पाता है । और जयचंद्र जब पृथ्वीराज के विषय में प्रश्न करता है तो तुर्की-तुर्की जवाब देता है । इसी प्रसंग में कवि पृथ्वीराज की वीरता के वर्णन का बहाना भी खोज निकालता है । जब जयचंद्र पूछता है कि क्यों नहीं पृथ्वीराज उसके दरबार में और राजाओं की भाँति आता तो चंद बताता है कि पृथ्वीराज ने तुम्हारे राज्य की रक्षा की है । शहाबुद्दीन गोरी जब कन्नौज पर आक्रमण करना चाहता था तो पहले तो कुंदनपुर के पास रायसिंह बघेले ने उसे रोका; परन्तु वह उसे पराजित करके आगे बढ़ा । उस समय पृथ्वीराज नागौर में थे । वे बाज की भाँति शहाबुद्दीन पर झपट पड़े । इसी बहाने कवि विस्तार के साथ इस लड़ाई की चर्चा करता है । स्वयं पृथ्वीराज भी दरबार में चंद के खवास के रूप में उपस्थित होते हैं और इस प्रकार कवि ने पृथ्वीराज-संबंधी वार्तालाप में स्वयं उसे श्रोता बनाकर एक प्रकार का नाटकीय रस ला

दिया है। जयचंद्र के मन में एकाध बार सन्देह होता है, पर पृथ्वीराज खवासवेश में दरबार के बाहर आ जाता है। लेकिन अन्त तक यह बात छिपती नहीं। पृथ्वीराज का पड़ाव घेर लिया जाता है, युद्ध का नगाड़ा बज उठता है और इसी युद्ध के बीच पृथ्वीराज अकेले कन्नौज की शोभा देखने चल पड़ते हैं। युद्ध का रोर सुनकर कन्नौज की सुंदरियाँ अटारियों पर आ बैठती हैं। घोर युद्ध होता है और उसी दुर्द्धर युद्ध की पृष्ठभूमि में कवि ने रोमांस का आयोजन किया है। चंद की यह अद्भुत घटना-योजना-शक्ति रासो में अन्यत्र कहीं भी प्रकट नहीं हुई। तलवार चमक रही थी, घोड़े और हाथियों की सेना में जुझाऊ बाजे बज रहे थे, वीरदर्प से कन्नौज मुखरित हो उठा था और मस्तमौला पृथ्वीराज संयोगिता के महल के नीचे मछलियों को मोती चुगा रहे थे। संयोगिता की सखियों ने देखा, संयोगिता ने भी देखा। क्या देखा? हृदय के आराध्य प्रेममूर्ति पृथ्वीराज मछलियों को मोती चुगा रहे हैं। एक क्षण के लिये संदेह हुआ। चित्रसारी में जाकर पृथ्वीराज का चित्र देखा और विश्वास हो गया कि निस्सन्देह यही वह राजा है जिसकी मूर्ति के गले में संयोगिता ने अपनी वरमाला डाल दी थी। और फिर पृथ्वीराज ने भी संयोगिता को देखा। क्या देखा?—

कुंजर उप्पर सिंघ सिंघ उप्पर दोय पश्वय ।
पश्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुम्भय ।
ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ ।
मृग उप्पर कोवंड संघ वंरप्प वयट्ठौ ।
अहि मयूर मडि उप्परह हीर सरस हेमन जरूयो ।
सुर भुवन छंडि कवि चंद कहि तिहि धोषे राजन परूयो ॥

इसके बाद प्रेम का देवता अपनी स्वाभाविक गति से आगे बढ़ने लगता है। संयोगिता ने दासी के हाथ से थाल में मोती भिजवाया। पृथ्वीराज अन्यमनस्क भाव से उन मोतियों को भी मछलियों को चुगाते रहे। फिर दासी ने ऊपर इशारा करके संयोगिता को दिखाया। कवि ने बड़ी कुशलता के साथ प्रेमियों के भाव-परिवर्तन का चित्रण किया है। संयोगिता की विचित्र स्थिति है, बोले कि न बोले? बोले तो हाथ से चित्त ही निकल जाय और न बोले तो हृदय फट जाय! भइ गति साँप छुछुंदरि केरी!—

जो जंपौ तौ चित्त हर अनजंषे विहरंत ।
अहि डट्टै छुच्छुन्दरी हियै विलगगी वंति ॥

परन्तु अन्त तक त्रिभुवनविजयी प्रेमदेवता की ही जीत होती है। पृथ्वीराज महल में लाए जाते हैं और गंधर्वविवाह हो जाता है। इसी समय पृथ्वीराज को खोजते हुए गुरुराम गंगा के तट पर आ जाते हैं और उनसे सेना का हाल सुनकर पृथ्वीराज चल देते हैं। युद्ध फिर बीच में भयंकर ध्वनि के साथ आ उपस्थित होता है। संयोगिता व्याकुल हो उठती है। माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध उनके शत्रु को प्रेम करनेवाली बालिका के हृदय की दशा बड़ी ही करुण थी। वह व्याकुलभाव से रोकर मूर्च्छित हो गई। इसी समय पृथ्वीराज उपस्थित हुए। संयोगिता को घोड़े पर बैठाकर वे दिल्ली की ओर चले। जुझाऊ बाजे बजते रहे, तलवारें खनखनाती रहीं, घोड़े दौड़ते रहे, सूर-सामन्त युद्धोन्माद

में पगे रहे। भयंकर युद्ध हुआ। पृथ्वीराज के राजभक्त सामन्त कई दिनों तक लड़ते रहे और राजा अपनी प्रिया के साथ भागते रहे। वीररस की पटभूमि पर यह प्रेम का चित्र बहुत ही सुन्दर निखरता है, पर युद्ध का रंग बहुत-बहुत गाढ़ा हो गया है। प्रेम का चित्र उसमें एकदम डूब गया है। कथा का आरम्भ जिस प्रकार हुआ था उससे लगता है कि प्रेम के चित्र को इस प्रकार युद्ध के गहरे रंग में नहीं डूबना चाहिए। यह युद्ध प्रेम का परिपोषक होकर आया है। या तो युद्ध का इतना गाढ़ा रंग बाद के किसी अनाड़ी चित्रकार ने पोता है या फिर चंद बहुत अच्छे कवि नहीं थे। कथा का आरम्भ जिस ललित ऊर्जस्वल योजना के साथ हुआ था उसे देखते हुए उसकी यह परिणति सामंजस्य न पहचानने का चिह्न है। कथा की परवर्ती परिणति बताती है कि शुरू में मूल कवि ने इतना रंग नहीं पोता होगा। चन्द कुशल कवि ही थे। उन्होंने इस प्रेम-कथानक की बड़ी ही सुन्दर और सुकुमार योजना की थी। युद्ध का वर्णन उस प्रेमप्रसंग को गाढ़ बनाने के उद्देश्य से आया है, सरदारों की मृत्यु-सूची बताने के लिये नहीं। जान पड़ता है, किसी उत्साही वीर कवि ने युद्ध के प्रसंग में बहुत-कुछ जोड़कर बेकार ही उसे इतना घसीटा है। इस बात को यदि स्वीकार न किया जाय तो कहना होगा कि चंद को सामंजस्य का बोध नहीं था।

इस प्रकार संयोगितायाना प्रसंग निस्संदिग्ध रूप से मूल रासो का सर्वप्रधान अंग था यद्यपि अपने वर्तमान रूप में वह बहुत-से प्रक्षिप्त अंशों के कारण विकृत हो गया है। इसके बाद शुकचरित्र है जिसके बारे में पहले ही उल्लेख किया गया है कि कथा के प्रवाह के वह अनुकूल ही है। यद्यपि उसके बारे में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह रासोकार की अपनी रचना है ही। अन्यान्य काव्यों की भाँति रासकाव्य भी मिलनान्त होते हैं। संयोगिता के मिलन के बाद कवि का उद्देश्य पूरा हो जाना ही संगत जान पड़ता है। शुकचरित्र के द्वारा इच्छिनी का हृदय शान्त करना भी संगत ही है। संदेशरासक विरह-काव्य है, पर कवि अचानक अन्त में मिलन की योजना कर देता है। विरहिणी अपना व्याकुल संदेश देकर ज्यों ही घर की ओर लौटना चाहती है त्यों ही उसका पति दक्षिण की ओर से आता दिखाई देता है। इस प्रकार अप्रत्याशित 'अचिन्तित' मिलन की योजना कवि को स्वयं थोड़ा उद्वेजक मालूम पड़ती है। लेकिन उसका उपयोग वह पाठक को आशीर्वाद देने में कर लेता है—उस विरहिणी की कामना जिस प्रकार अप्रत्याशितरूप से छिन भर में ही सिद्ध हो गई उसी प्रकार इस काव्य के पढ़नेवालों की भी पूरी हो— अनादि अनन्त देवता की जय हो—

जेम अचिन्तित कज तसु, सिद्ध खण्डि महंतु ।

तेम पढन्त सुणन्त यह, जयउ अण्णाइ अनन्तु ॥

और तो और, कालिदास को भी विरह का समुद्र उद्वेल कर लेने के बाद मिलन करा देने की उतावली हो गई थी—

श्रुत्वा वार्ता जलदकथितांतां धनेशोऽपि सद्यः

शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः ।

संयोग्यैतौ विगलितशुचौ दंपती हृष्टचित्तौ

भोगान्निष्ठानविगतमत्वं भोजयामास शश्वत ॥

यही चिराचरित भारतीय प्रथा है। रासो की समाप्ति भी आनन्द में ही होनी चाहिए। रासो में संयोगिता के साथ पृथ्वीराज के विलास का प्रधान वर्णन तो शुकचरित्र में ही मिल जाता है, पर अन्तिम हिस्सों में कई जगह बिना किसी योजना के और बिना किसी प्रसंग के (या जबर्दस्ती लाए हुए प्रसंगों में) इस संयोग-सुख का वर्णन मिलता है। बीच-बीच में इच्छिनी का पतिव्रता रूप भी स्पष्ट हो उठता है। इन्हीं किन्हीं प्रसंगों में मूल रासो का अन्तिम अंश प्रच्छन्न है। यह प्रसिद्ध है कि चंद के पुत्र ने इस ग्रन्थ को पूरा किया था। पता नहीं, इस 'पुत्र' ने कितना विस्तार किया है। सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इन पुत्रों की संख्या बहुत अधिक रही है और दो-तीन शताब्दियों तक उनका प्रभुत्व रहा है।

आरम्भ में हमने ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से संबद्ध भारतीय काव्यों की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। उस पृष्ठभूमि में रासो का यह रूप अनुचित नहीं मालूम होता। सभी ऐतिहासिक कहे जानेवाले काव्यों के समान इसमें भी इतिहास और कल्पना का—फैक्ट और फिक्शन का—मिश्रण है। सभी ऐतिहासिक मानी जानेवाली रचनाओं के समान इसमें भी काव्यगत और कथानक-प्रथित रूढ़ियों का सहारा लिया गया है। इसमें भी रस-सृष्टि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, संभावनाओं पर अधिक जोर दिया गया है और कल्पना का महत्वपूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है।

पंचम व्याख्यान

अपभ्रंश-ग्रन्थों के प्रकाशन से अनेक तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। जब-जब कोई जाति नवीन जातियों के सम्पर्क में आती है तब-तब उसमें नई प्रवृत्तियाँ आती हैं, नई आचार-परम्परा का प्रचलन होता है, नये काव्य-रूपों की उद्भावना होती है और नये छन्दों में जनचित्त मुखर हो उठता है। नया छन्द नये मनोभाव की सूचना देता है। श्लोक का उदय नई साहित्यिक मोड़ की सूचना है। वह बताता है कि संवेदनशील कविचित्त में नये युग के उपकाल की किरण नवीन जागरण का संदेश दे चुकी है। इसी प्रकार गाथा का उदय दूसरी सूचना है और दंड का तीसरी। श्लोक लौकिक संस्कृत के आविर्भाव का संदेशवाहक है। वैदिकयुग जब समाप्त हुआ तभी वह पूरी शक्ति के साथ उदित हुआ। एक तरफ उसमें आदिकवि का काव्य मुखर हुआ और दूसरी तरफ व्यासदेव का महाभारत। रामायण ने काव्य-साहित्य की परम्परा को जन्म दिया और इतिहास-काव्य ने पुराण और स्मृति-साहित्य को। बाद में लौकिक संस्कृत का काव्य अनेक छन्दों से बहु-विचित्र हो उठा। इन छन्दों में उपजातिश्रेणी के छन्द अधिक लोकप्रिय हुए। फिर मन्दाक्रान्ता और शार्दूलविक्रीडित छन्द भी उदित हुए। अनेक कृती कवियों ने इन छन्दों में मनोहर काव्य लिखे। अमरक और मेघदूत में बड़े-बड़े छन्द व्यवहृत हुए हैं। इतने बड़े-बड़े छन्दों में सुन्दर काव्य का निर्वाह सूचित करता है कि कवियों का भाषा पर बहुत व्यापक अधिकार हो चुका है। जिन दिनों यह जटिल छन्दोबन्ध लौकिक संस्कृत में बहुत सफलतापूर्वक लिखा जाने लगा था उन्हीं दिनों लोकभाषा एक नये छोटे से छन्द की ओर मुड़ गई। जिस प्रकार श्लोक संस्कृत की मोड़ का सूचक है उसी प्रकार गाथा, प्राकृत की ओर के भुकाव का व्यञ्जक है। आगे चलकर श्लोक संस्कृत का और गाथा प्राकृत का प्रतीक हो गया। सन् ईसवी के आरम्भिक दिनों में गाथा का साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश हो चुका था। 'हाल' का गाथाकोश या 'सत्तसई' अपने ढंग की बिल्कुल नवीन रचना थी। इसमें जिस प्रकार की लौकिक-रस-प्रधान कविता का दर्शन होता है वह संस्कृत-साहित्य में अपरिचित-सा था। छंटे-मोटे नित्य घटनेवाले जीवन-व्यापारों के साथ इसमें एक ऐसा निकट-सम्पर्क पाया जाता है जो आमुष्मिकता के आतंक से ग्रस्त पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य में बिल्कुल नहीं मिलता। प्रेम और करुणा के चुभनेवाले भाव, प्रेमियों की सरस क्रीड़ाओं का बोलता हुआ चित्र और प्रेम के घात-प्रतिघात के मनोहर दृश्य इस ग्रंथ में अत्यन्त

सजीव रूप में प्रकट हुए हैं। अहीर और अहीरिनियों की प्रेमगाथाएँ, ग्रामवधूटियों की शृंगारचेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पीधों को सींचती हुई ग्रामललनाओं के नयनाभिराम चित्र, विभिन्न ऋतुओं के भावोद्दीपक व्यापार इस ग्रन्थ में बहुत ही मनोरमरूप में चित्रित हैं और फिर भी इन प्राकृत गाथाओं को लोक-साहित्य नहीं कहा जा सकता। सतर्कता और सावधानी जो संस्कृत-कविता की जान है, इसमें भी है। अग्राम्य मनोहर भावों का चुनाव रुचि के साथ किया गया है। एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर सात सौ रत्नों को निकालने की अनुश्रुति उसी सतर्कता और सावधानी की सूचना देती है। इसलिये गाथा को इस विदग्ध-स्वीकृत रूप में आते-आते निश्चय ही कुछ शताब्दियों की यात्रा करनी पड़ी होगी। तीसरे भुकाव की सूचना लेकर एक दूसरा छंद भारतीय साहित्य के प्रांगण में प्रवेश करता है, यह दोहा है। विक्रमोर्वशीय में इसका सबसे पुराना रूप प्राप्त होता है, जैसे श्लोक, लौकिक संस्कृत का; गाथा, प्राकृत का प्रतीक है। गया है उसी प्रकार देहा, अपभ्रंश का। कभी-कभी एक-आध दोहे प्राकृत के भी बताए गए हैं। जैसे हेमचन्द्र की समस्यापूर्तिवाला प्रबंध-चिन्तामणि का यह दोहा—

पइली ताव न अनुहरइ गोरी मुहकमलस्स ।

अदिट्ठी पुनि उन्नमइ पडिपयली चन्दस्स ॥

परन्तु विचार किया जाय तो इस दोहे में कोई ऐसा विशेष लक्षण नहीं है जिससे इसे अपभ्रंश का दोहा न कहकर प्राकृत का कहा जाय। मुझे तो यह दोहा अपभ्रंश का ही लगता है और सच बात तो यह है कि जहाँ दोहा है वहाँ संस्कृत नहीं, प्राकृत नहीं, अपभ्रंश है। वैसे तो यह देश बहुत संरक्षणप्रिय है और जो छन्द एक बार चल पड़ा वह निरन्तर चलता रहता है। संस्कृत में भी दोहे लिखे गए हैं और गाथाएँ भी लिखी गई हैं और प्राकृत में भी सभी संस्कृत छन्दों का व्यवहार हुआ है, दोहे का भी कहीं-न-कहीं मिल ही जायगा। परन्तु सचाई यही है कि श्लोक संस्कृत का, गाथा प्राकृत का और दोहा अपभ्रंश का अपना छन्द है। माइल्ल धवल नामक कवि ने 'द्वयसहाययास' (द्रव्यस्वभावप्रकाश) नामक ग्रंथ को पहले दोहाबंध (अर्थात् अपभ्रंश) में देखा था। लोग उनकी हँसी उड़ाते थे (शायद इसलिये कि अपभ्रंश गँवारू भाषा थी)। सो, उन्होंने गाहाबंध (प्राकृत) में कर दिया। स्पष्ट ही दोहाबंध का अर्थ अपभ्रंश है और गाहाबंध का प्राकृत। माइल्ल धवल कहते हैं—

द्वयसहाययासं दोहयबंधेण आसि जं दिट्ठं ।

तं गाहाबंधेणय रइयं माइल्ल धवलेण ॥

—जैनसाहित्य का इतिहास, पृ० १६८

पहले-पहल यह सहज छन्द कब चल पड़ा—यह कह सकना कठिन है। विक्रमोर्वशीय में क्रा दोहा छन्द अपभ्रंश भाषा में ही निबद्ध है —

मइ जाणिअँ मियलोयणी, णिसयरु कोइ हरेइ ।

जाव ण णव जलि सामल, धाराहरु बरसेइ ॥

—विक्रमोर्वशीय, चतुर्थ अंक

अर्थात् मैंने समझा था कि कोई निशाचर मृगलोचनी को हरण किए जा रहा है; लेकिन यह मेरी गलती थी। इस गलती को मैंने तब महसूस किया जब कि नवीन विद्युत् से संयुक्त श्यामल मेघ बरसने लगे। जैकोबी को लगा था कि यह भाषा कालिदास की नहीं हो सकती। अर्थात् यह प्रक्षिप्त है। भाद के बारे में भी किसी-किसी को सन्देह है। इसी शब्दावली से मिलता-जुलता दोहा हेमचन्द्र के व्याकरण में भी है—

मइ जाणिउं प्रियविरहियहं, कवि घर होइ विआलि।

ग्वर मियङ्कु वि तिह तवइ, जिह दिण्यरु खयगालि ॥ —हेमचंद्र० ४

अर्थात् मैंने समझा था कि प्रिय-विरहिता नारियों को कम-से-कम सायंकाल कुछ सहारा मिल जाता होगा। पर यहाँ तो मृगाङ्ग भी इस भाँति तपता है जैसे प्रलयकाल का सूर्य हो। छः सौ वर्ष बाद एक-सी पदावली का आना बहुत आश्चर्य की बात नहीं है; पर सन्देह जगा देने की योग्यता तो उसमें है ही। परन्तु यह दोहा कालिदास में प्रक्षिप्त हो या न हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपभ्रंश का साहित्य ५वीं-६ठी शताब्दी में काफी मात्रा में वर्तमान था। दण्डी और भामह ने उस साहित्य को देखा था और एकाध शताब्दी बाद के तो कई अपभ्रंश काव्य और दोहाग्रन्थ मिल भी गए हैं। अपभ्रंश को 'दूहाविद्या' कहा गया है। इससे भी पता चलता है कि शुरू-शुरू में दोहा अपभ्रंश का प्रतीक था। बौद्धों और जैनों के कई दोहाबद्ध अपभ्रंश-काव्य मिले हैं। परमात्म-प्रकाश के दोहों को सातवीं शताब्दी का बताया गया है; परन्तु मैंने अन्यत्र दिखाया है कि वे दोहे नवीं-दसवीं शताब्दी के पहले के नहीं हो सकते।

यदि जंगल में भटकते हुए प्रियाविरह से व्याकुल राजा के प्रलाप में कवि ने तत्काल-प्रचलित ग्राम्यजन के गेय पदों में से एकाध पद्य कहलवा दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। माइल धवल की उक्ति से स्पष्ट ही है कि अपभ्रंश या दोहाबन्ध उन दिनों भले आदमियों की हँसी की चीज थी। इस दृष्टि से विक्रमोर्वशीयवाले दोहे को प्रक्षिप्त कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार गाथा को बहुत बाद साहित्यकारों का करावलम्ब मिला उसी प्रकार दोहा को भी कुछ दिनों बाद ही उपरले स्तर के साहित्यकारों का सहयोग मिला होगा। यह कह सकना कुछ कठिन ही है कि आभीर या अहीरजाति से इस छन्द का क्या संबंध था। नाट्यशास्त्र में कथित जिस उकारबहुला भाषा को आभीरों से संबंधित किया गया है, वह अपभ्रंश ही थी। दण्डी ने भी आभीर आदि की वाणी को अपभ्रंश कहा है और प्राकृतपिंगलम् में एक विशेष छन्द को आभीर या अहीर नाम दिया गया है। इस आभीर या अहीर छन्द में दोहा के द्वितीय और चतुर्थ चरण के समान ग्यारह मात्राओं के चार समान चरण होते हैं। इस छन्द का लक्षण इसी छन्द में इस प्रकार है—

ग्यारह मत्त करीज, अन्त पओहर दीज।

एहु सुछंद अहीर, जंपइ पिंगल धीर। —प्राकृतपिंगलम्

सो, इसका कुछ संबंध दोहे से खोजा जा सकता है। आधुनिक अहीरों के अत्यन्त प्रिय विरहागान का खाका मूलतः दोहा छन्द ही है। सोरठा का संबंध सौराष्ट्र से जोड़ा

गया है; क्योंकि इसे कभी-कभी सोरठ दोहा ही कहा गया है और आभीर-गुर्जरोँ का सोराष्ट्र से पुराना संबंध है। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि दोहा का कुछ संबंध संभवतः आभीर आदि जातियों से स्थापित किया जा सके; परन्तु यह बात ठोस प्रमाणों पर कम और अटकल पर अधिक आधारित है।

गाथा प्राकृतभाषा की प्रकृति के अनुसार दीर्घान्त छन्द में और दोहा अपभ्रंशभाषा की प्रकृति के अनुसार ह्रस्वान्त छन्द के रूप में है। यह छन्द नवीं-दसवीं शताब्दी में बहुत लोकप्रिय हो गया था। इस छन्द में नई बात यह है कि इसमें तुक मिलाने जाते हैं। संस्कृत, प्राकृत में तुक मिलाने की प्रथा नहीं थी। दोहा, वह पहला छन्द है, जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चलकर एक भी ऐसी अपभ्रंश-कविता नहीं लिखी गई जिसमें तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश केवल नवीन छन्द लेकर ही नहीं आई, बिल्कुल नवीन साहित्यिक कारीगरी लेकर भी आविर्भूत हुई। ईरान के साहित्य में मुस्लिम-पूर्वकाल में भी तुक मिलाने की प्रथा थी और बाद में तो फारसी गद्य में भी तुक मिलाकर लिखने की प्रथा चल पड़ी जिसका निश्चित अनुकरण विद्यापति की कीर्तिलता के गद्य में मिलता है। छठीं-सातवीं शताब्दी तक भारतवर्ष में उतर-पश्चिम सीमान्त से अनेक नई जातियों का आगमन हुआ और उनके कारण इस देश की भाषा में भी नए-नए तत्त्व प्रविष्ट हुए और कविता भी नवीन कारीगरी से समृद्ध हुई। हो सकता है कि यह तुक मिलाने की नवीन प्रथा भी नवीन जातियों के सम्पर्क का फल हो। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि दोहा नवीन स्वर में बोलता है। स्त्रियों की अद्भुत दर्पोक्ति जो आगे चलकर डिंगल-कविता की जान हो गई, इन दोहों में प्रथम बार बहुत ही द्रुत स्वर में प्रकट हुई है—

महु कन्तहो बे दोसड़ा, हेलिल म भङ्गहि आलु ।

देन्तहो हउँ पर उव्वरिय, जुज्झन्तहो करवालु ॥

ऐ सखी, बेकार बक-बक मत कर। मेरे प्रिय के दो ही दोष हैं—जब दान करने लगते हैं तो मुझे बचा लेते हैं और जब जूझने लगते हैं तो करवाल को।

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु रिण्ण ।

अह भग्गा अम्हत्तणा तो तँ मारिअडेण ॥

यदि शत्रुओं की सेना भगी है तो इसलिये कि मेरा प्रिय वहाँ है, और यदि हमारी सेना भगी है तो इसलिये कि वह मर गया है !

जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरु, छिज्जइ खगिण खगु ।

तहिं तेहइ भड घड निवहि, कन्तु पयासइ मग्गु ॥

जहाँ बाणों से बाण कटते हैं, तलवार से तलवार टकराती है, उसी भट-घटा-समूह में मेरा प्रिय मार्ग को प्रकाशित करता है।

भग्गउँ देखिखि निययवलु वलु पसरिअउँ परस्स ।

उम्भलइ ससिरेह जिवं करि करवालु पियस्स ॥

जब प्रिय देखता है कि अपनी सेना भाग खड़ी हुई है और शत्रु का बल बढ़ रहा है

तब चंद्रमा की महीन रेखा के समान मेरे प्रिय की तलवार खिल उठती है (और प्रलय मचा देती है !)

आयइं जम्भहिं अशहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु ।

गयमत्तहँ चत्तकुसहँ जो अग्भिडहि हसन्तु ॥

इस जन्म में भी और अगले जन्म में भी हे गौरि, ऐसा पति देना जो अंकुश के बंधन को अस्वीकार कर देनेवाले मदमत्त हाथियों से अनायास भिड़ जा सके ।

संगर सगहिं जु वणिअइ देखु अम्हारा कन्तु ।

अहिमत्तहँ चत्तङ्कुसहँ गय कुम्भेहिं दारन्तु ॥

वह देखो, वह मेरा प्रिय है जिसका बखान सैकड़ों लड़ाइयों में हो चुका है । वह—जो अंकुश को अस्वीकार करनेवाले मत गजराजों के कुम्भ विदीर्ण कर रहा है !

गाथा की भाँति अपभ्रंश के ये दोहे अपने-आपमें परिपूर्ण मुक्तक काव्यों के वाहन स्वीकार किए गए थे और सच पूछिए तो दोहा मुक्तक-काव्य का ही सफल वाहन है । यह प्रबंध या कथानक के लिये उपयुक्त छन्द नहीं मालूम होता । ढोला-मारू के दोहे यद्यपि कथानकरूप में लिखे गए हैं; परन्तु वे वस्तुतः मुक्तक ही हैं । इसी कथानकसूत्र को जोड़ने के उद्देश्य से सोलहवीं शताब्दी में दोहों के बीच-बीच में चौपाई जोड़कर कथानक को क्रमबद्ध करने का प्रयास किया गया था । चौपाई छोटा छन्द है, वह कथानक को सहज ही जोड़ देता है । अपभ्रंशकाल के आरंभ से ही इस छन्द के इस गुण को समझा जाने लगा था; परन्तु इसकी ठीक-ठीक प्रकृति जानने में कुछ समय लगा ।

अपभ्रंश के काव्य कडवक-बद्ध हैं । पञ्चटिका या अरिल्ल छन्द की कई पंक्तियाँ लिखकर कवि एक घता का ध्रुवक देता है । कई पञ्चटिका, अरिल्ल या ऐसे ही किसी छोटे छन्द को देकर अन्त में घता का ध्रुवक—यह कडवक है । पं० नाथूरामजी 'प्रेमी' ने लिखा है कि अपभ्रंश-काव्यों में सर्ग की जगह प्रायः सन्धि का व्यवहार किया जाता है । प्रत्येक सन्धि में अनेक 'कडवक' होते हैं और एक कडवक आठ 'यमकों' का तथा एक यमक दो पदों का होता है । एक पद में, यदि यह पद्धटियाबद्ध हो तो, सोलह मात्राएँ होती हैं । आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार चार पद्धटियों यानी आठ पंक्तियों का 'कडवक' होता है । हर एक कडवक के अन्त में घता या ध्रुवक होता है (जैनसाहित्य का इतिहास, पृ० ३७७ टि०) । अरिल्ल चौपाई का ही पूर्वरूप है । कथा-काव्य में इसका खूब प्रयोग भी हुआ है; परन्तु शुरू-शुरू में चौपाई की अपेक्षा अपभ्रंश में पद्धटिया का ज्यादा प्रचार था । जिस प्रकार आज-कल हमलोग चौपाई लिखने में तुलसीदास की श्रेष्ठता बतलाया करते हैं उसी प्रकार स्वयंभू ने चउम्मुह या चतुर्मुख को पद्धटिया का राजा बताया था । हरिवंशपुराण में उन्होंने कहा है कि पिंगल ने छन्द-प्रस्तार, भामह और दण्डी ने अलंकार; बाण ने अक्षराडम्बर, श्रीहर्ष ने निपुणत्व और चतुर्मुख ने छंदनिका, द्विपदी और ध्रुवकों से जटित पद्धटिया दिया—उद्दिष्टि दुवइ धुवइहिं जडिय । चउमुहेण समप्पिअ पद्धडिय । (जं० सा० ६०, प० ३७१—३७२) ।

यह तो हुई चौपाई की बात, घत्ता दोहे से भिन्न छन्द है। यह ६२ मात्राओं का छन्द होता है। प्रथम पंक्ति में १०, ८, १३ पर यति होती है और दूसरे चरण में भी यही क्रम रहता है—

पढमं दह बीसामो वीए मत्ताइं अट्टाहं ।

तीण तेरह बिरई, घत्त मत्ताइं बासट्टि ॥

उदाहरण यह है—

रण दक्ख दक्ख हण, जिणण कुसुमधण

अंधश्च गंध विलास करु ।

सो रक्खउ संकरु, असुर भयंकरु

गिरिणायरि अद्धंग धरु ॥

परन्तु व्यवहार में घत्ता शब्द का व्यवहार छेदन के अर्थ में ही होता रहा और कई बार काव्यों में अरिल्ल या पञ्चटिका के बाद उल्लाला या और कोई इसी तरह का 'द्विपंक्ति-लेख्य छंद' (Couplet) दे दिया जाता था। तुलसीदासजी की रामायण में इसी कड़वक-पद्धति को आठ या कुछ कम-ज्यादे चौपाइयों के बाद दोहा का घत्ता देकर स्वीकार किया गया है। रामायण के प्रेमी पूरे कड़वक को भी दोहा ही कहते हैं। रामायण के दो 'दोहा' पढ़ने का मतलब होता है दो कड़वक पढ़ना। तुलसी-रामायण के इन कड़वकों को दोहा-घत्ताक कड़वक कह सकते हैं; क्योंकि रामायण में घत्ता के स्थान पर दोहा छन्द का प्रयोग किया गया है। अपभ्रंश के काव्यों में भी घत्ता के स्थान पर अन्य छन्दों का व्यवहार हुआ है।^१

(१) उदाहरणार्थ 'पउमसिरिचरिउ' में प्रथम संधि के घत्ते 'घत्ता' छंद में है। एक उदाहरण यह है—

पणमिनि जय सामिणि नय सुर कामिणि वागेसरि सिय कमल कर ।

पणयहँ सग्भाविं जीए पभाविं कविहिं पयइइ वाणि वर ॥१४॥

किन्तु द्वितीय संधि में दूसरा छंद 'घत्ता' के लिये व्यवहृत हुआ है—

अवयरिउ गइंदह, कुमरु लोय लोयण सुहउ ।

सहु बंधव लोएहिं, संखु वि विसरिउ संमुहउ ॥३८॥

(२) कई अपभ्रंश काव्यों में घत्ता को घत्ता छंद में ही लिखने का नियम कठोरता के साथ अपनाया गया है; पर सबमें उतनी कड़ाई नहीं दिखाई गई। कभी-कभी शुरू में 'दुवई' (द्विपदी) देकर अन्त में किसी दूसरे छन्द में घत्ता दिया गया है। णायकुमार-

१. उदाहरणार्थ पुष्पयंत के 'णायकुमारचरिउ' की सातवीं संधि के प्रथम कड़वक का घत्ता यह है—

कुडिलंकुस वस एहिं णिच्चमेव पडिवरणउ ।

हरिथहिं सोहइ दाणु जेहिं संबंधणु दिरणउ ॥

फिर पउमसिरिचरिउ की विईयसंधि के घत्ते इस छंद में हैं—

बंधव जण बल्लह गुरुयणि विणिय मयंद गइ ।

लंघिय रयणायर राहव लक्खण दोवि नइं ॥

चरित में इस नियम का बहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है। कभी छोटे-छोटे छंदों में भी कड़वक लिखे गए हैं। इन सब नियमों का परवर्ती काल में अनुसरण हुआ है। अनेक छंदों में कथा कहने की प्रथा केशवदास की अपनी चलाई हुई नहीं है। करकंडुचरित, पायकुमारचरित आदि में छंद बदलने की प्रवृत्ति मिलती है। वस्तुतः छंदों के मामले में अपभ्रंश बहुत समृद्ध भाषा कही जा सकती है। अस्तु। दोहा का घत्ता अपभ्रंश के कवियों में एकदम अपरिचित तो नहीं था, जिनपद्य सूरि के थूलभट्टागु में इसका उदाहरण मिल जाता है। परन्तु प्रबन्ध-काव्य में चौपाई-दोहा का क्रम बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ। संभवतः पूर्वी प्रदेश के कवियों ने प्रबन्ध-काव्य में चौपाई और दोहा से बने कड़वकों का प्रयोग शुरू किया था। जायसी आदि सूफी कवियों ने इसी प्रथा का अवलम्बन किया था; परन्तु बीजरूप में यह प्रथा बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में मिल जाती है। ~~गणना~~ ने लिखा है—

अइसैं विसन संधि को पइखइ । जो जइ अत्थि एउ जावन दीसइ ।

पंडिअ सअल सत्थ बक्खाणइ । देहि बुद्ध बसन्त ण जाणइ ॥

गमणागमण न तेन विखण्डिअ । तो वि णिलउज भणहि हउं पण्डिअ ॥

जीवन्तह जो नउ जरइ,

सो अजरामर होइ ।

गुरु उवण्से विमल मइ,

सो पर धयणा कोई ॥

चौपाई-दोहे का सबसे पुराना प्रयोग शायद यही है। जो कुछ पुराना साहित्य उपलब्ध है उससे लगता है कि पूर्वी प्रदेश के बौद्ध सिद्धों ने ही इस शैली में लिखना शुरू किया था। पश्चिम में पद्धड़िया-बंध अधिक प्रचलित था और पद्धड़िया से कभी-कभी चौपाई का अर्थ भी ले लिया जाता था। जैसा कि जिनदन सूरि की चर्चरी के वृत्तिकार जिनपाल के वक्तव्य से स्पष्ट होता है। किन्तु सब मिलाकर चौपाई-दोहा की पद्धति उधर दीर्घकाल तक लोकप्रिय नहीं हुई। गोरखनाथ की बताई जानेवाली वाणियों में भी इस पद्धति को कश्चित् खोज लिया जा सकता है और कबीरदास ने तो निश्चितरूप से इस पद्धति का व्यवहार किया था। इतने बड़े पृथ्वीराजरासो में इस पद्धति का बहुत ही कम स्थानों में उपयोग हुआ है। रासो में बयालीसवें समय (पृ० ११६८) में एक स्थान पर चौपाई-दोहा की पद्धति मिलती है। यह अंश बहुत परवर्ती जान पड़ता है। छंदों के आधार पर ही जो लंग रासो के प्राचीनतम रूप का अनुमान करते हैं वे तो इसे प्रक्षिप्त मानेंगे ही। ऐसा लगता है कि पूरब से ही यह प्रथा धीरे-धीरे पश्चिम की ओर गई है।

एक मनोरंजक बात इस प्रसंग में यह है कि जिस प्रकार घत्ता के स्थान पर अपभ्रंश काव्य के कड़वकों में दूसरे-दूसरे छंद भी रख दिये जाते थे, उसी प्रकार परवर्तीकाल में अवधी के प्रबंधकाव्यों में देहा के स्थान पर अन्य छंदों के रखने की प्रवृत्ति का भी कुछ प्रमाण मिल जाता है। नूर मुहम्मद ने दोहा के स्थान पर बरवी रखकर अपने अनुराग-

बाँसरी नामक प्रबन्धकाव्य के कड़वकों की रचना की थी ।^१ पर सब मिलाकर पूर्वी प्रदेशों में देहा का ध्रुवक देने का नियम ही बना रहा । सरहपाद से लेकर द्वारकाप्रसाद मिश्र तक यह परंपरा लगभग अविच्छिन्नभाव से ही चली आई है ।

चौपाई छन्द ही कथानक छन्द है । सूरदास के नाम पर बहुत-से पद चौपाई छन्दों में बद्ध मिलते हैं । कई प्रतियों में ये चौपाईवाले पद प्राप्त नहीं होते और कई में मिल जाते हैं । सूर-साहित्य के समालोचकों के लिये यह एक समस्या ही रही है । मुझे लगता है कि भावपूर्ण पदों के बीच, रासलीला आदि के समय कथासूत्र को जानने के लिये ये चौपाई-बद्ध पद बाद में जोड़े गए होंगे । ढोला के दोहों का कथासूत्र मिलाने में कुशल लाभ ने इसी कौशल का सहारा लिया था ।

सो, यद्यपि अपभ्रंश के आरम्भिक काव्यों में चौपाई-जैसे कथानकसूत्र-योजक छन्द का प्रचलन हो गया था और चौपाई के साथ अपभ्रंश के लाड़िले छन्द दोहा का गठबन्धन भी हो चुका था; पर कथा-काव्य के लिये इसका महत्त्व बाद में समझा गया ।

धीरे-धीरे अपभ्रंश में भी बड़े-बड़े छन्द लिखे जाने लगे । रोला, उल्लाला, वीर कव्व, छप्पय और कुण्डलिया अपभ्रंश के अपने छन्द हैं । धीरे-धीरे अपभ्रंश की कविता भी आडम्बरपूर्ण होती गई । छप्पय और कुण्डलिया-जैसे छन्दों को सँभालकर वीरदण की ओजस्विनी कविता लिखना भाषा की प्रौढ़ता का सबूत है ।

चन्दवरदाई छप्पयों का राजा था । बहुत पहले शिवसिंह ने यह बात लिखी थी और रासो असल में छप्पयों का ही काव्य है । कविराज श्यामलदास तो रासो में छप्पय और दूहा के अतिरिक्त और किसी छंद का अस्तित्व ही नहीं मानते, और वैसे तो हर तलवार की झन्कार में चन्दवरदाई तोटक, तोमर, पद्धरी और नाराच पर उतर आते हैं, पर जमकर वे छप्पय और दूहा ही लिखते हैं । यह अत्यन्त संकेतपूर्ण तथ्य है कि चन्दवरदाई के नाम से मिलनेवाले छन्दों में जिनकी प्रामाणिकता लगभग निःसन्दिग्ध है : वे छप्पय ही हैं । मुनि जिनविजयजी ने पुरातनप्रबन्धसंग्रह में चन्द के नाम पर मिलनेवाले चार छप्पयों का उल्लेख किया है । उनमें से तीन तो मुनिजी ने स्वयं ही वर्तमान रासो से ढूँढ़ निकाले हैं । पुरातनप्रबन्ध के छप्पयों की भाषा अपभ्रंश है । मैंने बहुत पहले अनुमान किया था कि

१. एक उदाहरण—

बनो पंथ दोऊ मनमाँही । मानलीनता आवै नाहीं ॥
 आवै जाइ सुवा उपदेसी । दोऊ दिसि तैं बनो संदेसी ॥
 दुइ मनमिले बीच जो होई । सो व्यवहार न जानै कोई ॥
 नित पलुहाइ नेह की बेली । फूलै लागि प्रीति की कली ॥
 हित प्रगटावै ऊभी साँसू । बदन गोरना चख कै आँसू ॥
 कैसे छुपे नेह दुख भारी । जहाँ आँसू ऐसो विभिचारी ॥
 नेह न छिपे छिपाएँ जिमि मृगसार ।
 चहुँ दिसि लै पहुँचावै बचन बयार ॥

चंद हिन्दी परंपरा के आदिकवि की अपेक्षा अपभ्रंश परंपरा के अंतिम कवि थे । यह बात इन छप्पयों से प्रमाणित होती है ।

इक्कु बाणु पटुवीसु जु पइं कईवासह मुक्कओँ,
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ ।
वीअं करि संधीउं भंमइ सूमेसरनंदण ।
एहु सु गडि दाहिमओँ खणइ खुइइं सइंभरिवणु ।
फुड छंडि न जाई इहु लुडिभउ वारइ पलकउ खल गुलह ।
न जाणउं चदबळडिउ किं न वि छुटइ इह फलह ।

—पुरातनप्रबंधसंग्रह, पृ० ८६ पद्य २७५

एक वान पटुमी नरेस कैमासह मुक्क्यौ ।
उर उप्पर थरहर्यौ बीर कक्कंतर चुक्क्यौ ॥
बियौ वान संधान हन्यौ सोमेसर नंदन ।
गाढौ करि निग्रह्यौ पनिव गड्यौ संभरि धन ॥
थल छोरि न जाइ अभागरौ गड्यौ गुन गहि अगगौ ।
इम जंपै चंदवरदिया कहा निघट्टै इन प्रलौ ॥

—पृथ्वीराजरासो, पृ० १४९६, पं० २३६

अगहु म गहि दाहिमओँ रिपुरायखयंकरु,
कूडु मंत्रु सम ठवओँ एहु जंघुय (य ?) मिलि जगगरु ।
सह नामा सिक्खवउं जइ सिक्खवउं बुज्झाईं ।
जंपइ चंदवलिहु मज्झ परमक्खर सुज्झइ ।
पहु पटुविराय सइंभरिधणी सयंभरि सउणइ संभरिसि,
कईवास विआस विसट्टविणु मच्छिबंधिवद्धओँ मरिसि ॥

—पृ० प्र० सं, पद्य २७६

अगह मगह दाहिमौ देव रिपुराई पयंकर ।
कूरमंत जिन करौ मिले जंबू वै जंगर ॥
मो सहनामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै ।
अण्णै चंद विरइ वियो कोई एह न बुज्झै ॥
प्रथिराज सुनवि संभरि धनी इह संभलि संभारि रिस ।
कैमास बलिष्ठ बसीठ विन ग्लेच्छ बंध बंध्यौ मरिस ॥

—पृ० रा०, पृ० २१८२, पं० ४७५

त्रिण्हि लत्त तुपार सबल पापरीभई जसु हय,
चऊद सय मयमत दंनि गज्जति महामय ।
बीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क पणुद्धर,
लहूसडु अरु बलु यान सखं कु जाणई ताहं पर ।
छुत्तीस लक्क नरहिवाई बिहिविनडिओँ हो किम भयउ,
जइचंद न जाणउ जल्लुकइ गयउ कि मूउं कि धरि गयउ ॥

—पृ० प्र० सं०, पृ० ८८, पं० २८७

असिय लष तोषार सजउ पषर सायदल ।
 सहस हस्ति चवसट्टि गरुअ गजंत महाबल ॥
 पंच कोटि पाइऊ सुफर पारक धनुदर ।
 जुध जुधान वर बीर तीन बंधन बद्धनभर ॥
 छत्तीस सहस रन नाइवौ विही त्रिम्मान ऐसो कियौ ।
 जैचंद राइ कविचंद कहि उदधि बुडि कै धर लियौ ॥

—पृ० रा० १०, पृ० २५०२, पद्य २१६

एक मनोरंजक बात यह है कि चंदवरदाई ने संस्कृत और प्राकृत श्लोक लिखने का भी प्रयास किया है। संस्कृत वे साटक या श्लोक छन्द में लिखते हैं और प्राकृत गाहा (गाथा) में। इन दोनों बातों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि अपभ्रंश वे दूहा और छप्पय में लिखते होंगे। छप्पय आगे चलकर डिगल का प्रधान छन्द हो गया है, पर यह संस्कृतवाला साटक क्या है। रासो के सम्पादकों को इस नाम की व्याख्या करने में काफी श्रम उठाना पड़ा था। उन्होंने स्पष्ट ही अनुभव किया था कि यह छन्द 'शार्दूलविक्रीडित' का नामान्तर है। यहाँ इस बात का उल्लेख उनके मत में कोई भ्रांति दिखाने या संशोधन करने के उद्देश्य से नहीं किया जा रहा है। उन्होंने ठीक ही अनुमान किया था कि साटक शार्दूलविक्रीडित का नामान्तर है। मुझे इस शब्द पर विचार करने से एक दूसरी बात सूझी और यद्यपि यह थोड़ा अप्रासंगिक है तो भी इस अध्ययन के लिये उपयोगी समझकर उसकी चर्चा कर रहा हूँ।

प्राकृत-पिंगल में शार्दूलविक्रीडित का लक्षण और उदाहरण दिया गया है और उसके बाद ही 'शार्दूलसट्ट' का लक्षण दिया हुआ है जो वस्तुतः एक ही छन्द है। आगे 'शार्दूलस्य लक्षणद्वयमेतत्' कहकर उपसंहार किया गया है। टीका में 'सट्ट' या 'साटक' छन्द के और भी कई भेद दिए गए हैं। यहाँ छन्द के इन भेदों की चर्चा करने से कोई लाभ नहीं है। मुझे सिर्फ सट्टक या साटक शब्द से मतलब है। शार्दूलविक्रीडित का अनुवाद ही शार्दूल सट्टक होगा। वस्तुतः सट्टक एक प्रकार का नाटकभेद है। वह प्राकृत में लिखी हुई नाटिका के समान ही होता है। कर्पूरमंजरी एक सट्टक है। इसके लेखक राजशेखर ने सूत्रधार के मुख से इसका लक्षण कहलवाया है। सूत्रधार कहता है कि जो लोग सहृदय या 'छइल्ल' (छविल ? या छैला !) हैं अर्थात् विदग्ध हैं उन्होंने कहा है कि सट्टक वह है जो बहुत कुछ नाटिका के समान होता है। अन्तर सिर्फ यह है कि उसमें प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते—

सो सट्टओत्ति भयणइ दूरं जो णाडियाए अणुहरदि ।

किंपुण पयेस विक्खंभआइं इह केवलं गरिथ ॥

सो, सट्टक एक प्रकार का नाटक है या लौकिक तमाशा है नौटंकी की तरह। 'रासक' भी इसी प्रकार का एक रूपकभेद है और छंद तो है ही। श्रीहरिवंनभूषी भावाणी ने संदेश-रासक की प्रस्तावना में रासक छंद और काव्यरूप पर विचार किया है। उससे जान पड़ता है कि रासक एक छंद का नाम है। संदेशरासक का यह मुख्य छंद है। इस पुस्तक का लगभग एक तिहाई हिस्सा रासक छंद में ही लिखा गया है। यह इक्कीस मात्राओं का छंद

है। अनुमान किया जा सकता है कि शुरू-शुरू में रासकजातीय ग्रंथ प्रधानतः इसी छंद में लिखे जाते होंगे। रासक का एक उदाहरण यह है—

तं जि पहिय पिक्खेविण्णु पिअ उक्कंखिरिय
मंथर गय सरलाइवि उत्तावलि चलिय ।
तह मणहर चल्लंति य चंचल रमण भरि
छुइवि खिसिय रसणावलि किंकिणि रव पसरि । संदेशरासक १ । २६

श्रीजिनदत्त सूरि की चर्चरी में इसी छंद का व्यवहार है। उनके उपदेशरसायनरास में दूसरे छंद का प्रयोग है जिसे टीकाकार ने पद्धटिका बंध कहा है। यह चौपाई जैसे १६ मात्रा के छंद में है। टीकाकार ने बताया है कि यह सभी रागों में गाया जा सकता है—

अत्र पद्धटिका बंधे मात्राः षोडशपादगाः ।
अयं सर्वेषु रागेषु गीयते गीतिकोविदैः ॥

इससे जान पड़ता है कि पद्धटिका बंध चौपाई छंदों में भी होता था। पद्धरी वस्तुतः १६ मात्रा का छंद है और इसमें रचना करते समय कवियों ने यथेच्छ स्वाधीनता का परिचय दिया है। पर चौपाई को पद्धड़िया कहने का रवाज बहुत पुराना नहीं जान पड़ता।

विरहाङ्क ने अपने वृत्तजातिममुचय में दो प्रकार के रासककाव्यों का उल्लेख किया है। एक में विस्तारितक या द्विपदी और विदारी वृत्त होते थे और दूसरे में अडिल्ल, दोहा, मत्ता, रड्डु और ढोला छंद हुआ करते थे। संदेशरासक दूसरी श्रेणी की रचना है। स्वयंभू अपने स्वयंभूछन्दस् में बताते हैं कि रासाबंध में घत्ता छड्डुणिआ (छप्पय ?) और पद्धड़िया के प्रयोग से जनमन-अभिराम हो जाता है—

घत्ता छड्डुणिआहि पद्धड़ियाहि सुअरण्ण रूपं हिं ।
रासाबंधो कवे जणमण अहिरामओ होहि ॥

इससे पता चलता है कि उन दिनों रासोबंध काव्य का एक मुख्य भेद था और उसमें विविध छंदों का प्रयोग होता था। पृथ्वीराजरासो इसी श्रेणी का काव्य है। इसमें रासक छंद का प्रयोग बहुत कम हुआ है। हालाँकि स्वयंभू की स्वयंभूछन्दस् से स्पष्ट है कि रासक २१ मात्राओं का एक छंद है—

एक बीस मत्ताणिह णउ उहामगिरु ।
चउदसाइ बिस्साम हो भगण विरह थिरु ॥
रासा बंधु समिद्ध एउ अहिराम अरु ।
लहु अति अल अवसाण विरइअ महुअ अरु ॥

शार्दूलसाटक का मतलब शार्दूल का खेल है। ठीक विक्रीडित शब्द का अनुवाद समझिए। संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित शब्द का किसी ने शार्दूलसाटक अनुवाद किया होगा। यह बात थोड़ी महत्वपूर्ण इसलिये है कि 'रासो' शब्द को लेकर हिन्दी के विद्वानों ने बेमेल, बेमतलब के अटकल लगाए हैं। सन्देशरासक-जैसे ग्रन्थों के मिलने के बाद भी यह अटकल-समाप्त नहीं हुआ है। रासक वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है। रास में वही भाव है। सट्टक भी ऐसा ही शब्द है। लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने इन्हें रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था। इन शब्दों का

अर्थ विशेष प्रकार के विनोद और मनोरंजन थे । परवर्ती राजस्थानी काव्यों में चरितकाव्यों में चरितनायक के नाम के साथ 'रासो' 'विलास' 'रूपक' आदि शब्द देकर ग्रंथ लिखना रूढ़ हो गया था । राजस्थानी रणमल्लरासो, राणारासो, सगतसिंहरासो, रतनरासो आदि रासो-नामधारी ग्रन्थ बहुत हैं । फिर 'विलास'-नामधारी ग्रन्थ भी कम नहीं हैं—राजविलास, जगविलास, विजयविलास, रतनविलास, अभयविलास, भीमविलास इत्यादि । और रूपक नाम देकर भी ग्रन्थ हैं जैसे—राजरूपक, गोगादेरूपक, रावरिणमल्लरूपक, गर्जसिंहरूपक इत्यादि । ये सब शब्द बाद में चरितकाव्यों के लिये रूढ़ हो गए हैं । रासो या रासा नाम देखकर ही वीरगाथा समझ लेना बहुत अच्छे अध्ययन का सबूत नहीं है । शुक्लजी ने बीसलदेवरासो को स्पष्टरूप से वीरगाथा के बाहर घोषित किया था और अब तो दर्जनों ऐसे रासो या रासानामधारी ग्रन्थ मिले हैं जो वीरगाथा किसी प्रकार नहीं कहे जा सकते । रासो केवल चरितकाव्य का सूचक है । प्रकाश और विलास भी तथैव च । सो रासो में का 'साटक' शब्द इशारा करता है कि किसी जमाने में साटक या सटुक विनोदवाची शब्द था और लोक में उसका प्रचलन देखकर शास्त्रकारों ने उसे नाट्यभेदों में गिना जिस प्रकार रास या रासक को गिना था ।

गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव १६ वीं शताब्दी में हुआ था । उन दिनों लोक में बहुत तरह के काव्य प्रचलित रहे होंगे । गोस्वामीजी ने देखा कि ये 'प्राकृतजनगुणगान-मूलक' काव्य बड़ा अनिष्टकर प्रभाव फैला रहे हैं । उन्हें इस बात से जरूर ही बहुत क्लेश हुआ होगा । चरित्रगत शिथिलता को बढ़ानेवाली चीजें उन्हें बिल्कुल पसंद नहीं थीं । उन्होंने दुःख के साथ और दृढ़ता से घोषित किया कि—“कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुन गिरा लगति पछताना” । दुःख उस समय की सामाजिक हीनता के कारण था और दृढ़ता अपनी शक्ति में विश्वास के कारण । वे इस प्रयत्न में लग गए कि इन 'प्राकृतजन-गुणगानमूलक' काव्य-रूपों को राममय कर दिया जाय । वे खूब सफल हुए । उन दिनों जितने 'प्राकृतजनगुणगानमूलक' काव्य थे वे सभी गोस्वामीजी के प्रभावशाली काव्य से दब गए । सब काव्य-रूपों को तो शायद वे राममय नहीं कर पाए होंगे ; पर अधिकांश क्षेत्रों में वे सफल रहे । उनके काव्य-प्रयत्नों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि उनके पूर्व की दो-तीन शताब्दियों में किस जाति का साहित्य लिखा जा रहा था । गोस्वामीजी ने इन काव्यरूपों का उपयोग किया था—

- १ दोहा-चौपाईवाले चरितकाव्य
- २ कवित्त-सवैया
- ३ दोहों में अध्यात्म और धर्म-नीति के उपदेश
- ४ बरवै छन्द
- ५ सोहर छन्द
- ६ विनय के पद
- ७ लीला के पद
- ८ वीरकाव्यों के लिये उपयोगी छप्पय, तोमर, नाराच आदि की पद्धति
- ९ दोहों में सगुन विचार
- १० मंगल-काव्य

इनमें से कुछ रूपों के बारे में तो निश्चय के साथ ही कहा जा सकता है कि ये रूप अवश्य वर्तमान थे। चरितकाव्य बहुत लिखे जा रहे थे। जायसी का पद्मावत और कुछ अन्य मुसलमान कवियों के चरितकाव्य प्राप्त हुए हैं। स्वयं जायसी ने अपने काव्य में कुछ लौकिक कथानकों का उल्लेख किया है। इनमें मुग्धावती है, मृगावती है, मधुमालती है और प्रेमावती है। मृगावती और मधुमालती के नाम पर लिखे गए काव्यग्रन्थों का पता लगा है। हो सकता है कि इन नायिकाओं के चरित को आश्रय करके कई-कई काव्य लिखे गए हों। उन दिनों के रसिया युवक इन कहानियों को वृद्धों की आँख बचाकर पढ़ते थे। सन् १६०३ के आस-पास जैनकवि बनारसीदास ने अपना आत्मचरित 'अर्थकथानक' लिखा था। उसमें उन्होंने अपनी युवावस्था के इस कुकृत्य का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि हाट-बाजार जाना बन्द करके मैं मृगावती और मधुमालती की पोथियाँ पढ़ा करता था ! सूफी कवियों ने इन अत्यन्त प्रचलित कहानियों में सूफियाना मर्मी भाव भरना चाहा। गोसाईजी को इन अर्थकथानकों के सहारे धर्मनिरूपण करनेवाले कलिकाल के अधम कवियों का पता था—

साखी सब्दी दोहरा, कहि कहनी उपखान ।

भगति निरूपहि अधम कवि निंदहि वेद पुरान ॥

इस प्रकार 'कहनी-उपखान' के द्वारा धर्मनिरूपण की प्रथा इस देश में नई भी नहीं है और अपरिचित भी नहीं है। गोस्वामीजी ने यह नहीं बताया कि ये 'कहनी-उपखान' कहनेवाले कवि सूफी ही थे या और कोई। सूफी भी हो सकते हैं, जैन भी और निर्गुणिया तो थे ही।

कवित्त-सवैया की प्रथा कब चली, यह कहना भी कठिन है। ये ब्रजभाषा के अपने छन्द हैं। सवैया का संधान तो कथंचित् संस्कृत-वृत्तों में मिल भी जाता है, पर कवित्त कुछ अचानक ही आ धमकता है। तुलसीदास ने जब इस छन्द का इतना उपयोग किया है तो इसका प्रचार निश्चय ही उन दिनों खूब रहा होगा। गंग, केशव आदि समसामयिक कवियों ने जमकर इसका प्रयोग किया है। कवित्त अर्थात् घनाक्षरी। रासो में कवित्त का अर्थ है छप्पय। चंद के नाम पर कुछ विशुद्ध ब्रजभाषा के घनाक्षरी छन्द चलते हैं; इनमें पृथ्वीराज का गुणानुवाद है। शिवसिंह ने अपने सरोज में ऐसे कुछ छन्द उद्धृत किए थे। एक इस प्रकार है—

मंडन मही के अरि खण्डे पृथिराज वीर
तेरे डर वैरी वधू डाँग - डाँग डगे हैं ।
देश - देश के नरेश सेवत सुरेश जिमि
काँपत फणेश सुनि वीर रस पगे हैं ।
तेरे सुतिमंडलनि कुण्डल विराजत हैं
कहै कवि चंद यहि भौंति जेब जगे है ।
सिंधु के वकील संग मेरु के वकीलहिं लै
मानहुँ कहत कछु कान आनि लगे हैं ।

भाषा से ये परवर्ती लगते हैं। साहित्य में इस छंद का प्रवेश एकदम अचानक हुआ है। मूलतः ये बन्दीजन के छन्द हैं। संभवतः उसी परम्परा में इसका मूल भी मिले।

जिस प्रकार श्लोक लौकिक संस्कृत का, गाथा प्राकृत का और दोहा अपभ्रंश का अपना छन्द है उसी प्रकार कवित्त-सर्वया व्रजभाषा के अपने छन्द हैं। जिसे हिन्दी का आदिकाल कहा जाता है उसमें इस छंद का प्रचार निश्चय ही हो गया था।

बरवै अवधी का अपना छन्द है। कुछ कवियों ने इसका उत्तम प्रयोग किया है। पर यह आगे चलकर उतना लोकप्रिय नहीं हो सका है। सोहर अब भी लोकगीत के रूप में जी रहा है। साहित्य में तुलसीदास के पहले इसका प्रयोग अबतक नहीं प्राप्त हुआ।

‘दोहा’ अपभ्रंश का लाड़ला छन्द है, यह पहले ही बताया जा चुका है। सातवीं शताब्दी के बाद भारतीय साहित्य में इसका दर्शन होता है। प्रवेश तो इसका बहुत पहले ही हो चुका था, पर सातवीं-आठवीं शताब्दी में इसने शृंगार को, वीर को, धर्म को और नीति को लोकचित्त में प्रवेश कराने का व्रत लिया। धर्म के क्षेत्र में जो इन्दु और रामसिंह के मर्मी उपदेशों को इसने प्रचारित किया, सरह, कन्ह, तिल्लोपा आदि बौद्ध सिद्धों की रहस्यवादी भावनाओं का वाहन बना, गोरखनाथ-जैसे अलख जगानेवालों का सहायक हुआ और कबीर जैसे फक्कड़ का सन्देशवाहक बना। शृंगारक्षेत्र में इसकी दुन्दभी बहुत पहले बज चुकी थी। हेमचन्द्र के व्याकरण, प्रबंधचिन्तामणि, सन्देशरासक और ढोलामारू के दोहों में इस छन्द की भाववाहन योग्यता अद्भुत रूप में प्रमाणित हो चुकी थी। ऐसे छन्द को तुलसी बाबा कब छोड़नेवाले थे। इसे पवित्र भक्ति की मन्दाकिनी में स्नान कराने का श्रेय उन्हीं का है।

मंगलकाव्य की परम्परा बंगाल में प्राप्त होती है। जान पड़ता है कि तुलसीदास के पूर्व इस प्रकार के मंगलकाव्य बहुत लिखे जाते थे। बंगाल में पाये जानेवाले मंगलकाव्यों में देवताओं के यश वर्णित हैं। कबीर के नाम पर ‘आदिमंगल’, ‘अनादिमंगल’ और ‘अगाधमंगल’ नाम के तीन मंगलकाव्य मिलते हैं। तुलसीदास ने ‘पार्वतीमंगल’ और ‘जानकीमंगल’ नाम से दो मंगलकाव्य लिखे हैं जो वस्तुतः विवाह-काव्य हैं। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि मंगलकाव्य प्रधानतः विवाह-काव्य थे। पृथ्वीराजरासो के ४६ वें समय में ‘विनयमंगल’ नाम का एक काण्ड जोड़ दिया गया है। यह भी विवाहकाव्य है। प्रसंग संयोगिता की शिक्षा का है। संयोगिता को उसकी गुरु ब्राह्मणी ने वधूधर्म की शिक्षा दी थी। ऐसा जान पड़ता है कि यह ‘विनयमंगल’ कोई पृथक् काव्य था जो बाद में रासो में जोड़ दिया गया है। अध्याय के मध्य में ही ‘इति विनयकाण्ड समाप्त’ कहा गया है जो इस बात का सूचक है कि यह विनयकाण्ड पूरा का पूरा वहीं से उठाकर इसमें जोड़ दिया गया है। आगेवाले अध्याय में फिर से विनयमंगल का प्रसंग आ जाता है। ऐसा गडु-मडु क्यों हुआ। संयोगिता की शिक्षा का यह प्रकरण मूल रासो का अंग था, उसमें विनयमंगल का प्रसंग देखकर बाद में किसी इसी नाम की पूरी पुस्तक को वहाँ जोड़ दिया गया है। रासोवाला विनयमंगल इस बात का सबूत है कि मंगल-साहित्य बंगाल से राजस्थान तक किसी समय व्याप्त था। कबीरदास का ‘आदिमंगल’ अपनी व्याख्या के लिये एक छोटे-से उपाख्यान की अपेक्षा रखता है। परवर्ती कबीरपन्थी ग्रन्थों में सृष्टि-प्रक्रिया का यह उपाख्यान मिल जाता है। मैंने अन्यत्र बंगाल के धर्ममंगल-साहित्य

से इसकी तुलना करके दिखाया है कि ये दोनों साहित्य एक दूसरे के पूरक हैं। संभवतः तुलसीदास ने जब 'कहनी-उपखान' वालों की खबर ली थी तो मंगल-साहित्य के ग्रन्थ भी उनकी दृष्टि में थे। बंगाल में पाए जानेवाले मंगल-काव्य पौराणिक उपाख्यान-जैसे ही हैं और सचमुच ही उनमें 'धरमनिरूपन' का प्रयास है। उत्तरभारत से अब उस श्रेणी का साहित्य लोप हो गया है। पर तुलसी-पूर्वयुग में विवाहपरक मंगलकाव्यों के साथ ही 'उपखानमूलक' मंगलकाव्य भी अवश्य लिखे जाते होंगे। कबीर के नाम पर बाद में लिखे गए अनेक मंगल और उपखान-ग्रन्थ इसके साक्षीरूप में जीवित हैं।

तुलसीदास के द्वारा प्रयुक्त अन्य काव्यरूपों को देखकर भी अनुमान होता है कि उस प्रकार के काव्यरूप पहले वर्तमान थे। अभी तक मैंने पदों के साहित्य को नहीं लिया। अब उसका भी प्रसंग आ रहा है; किन्तु उसकी चर्चा करने के पहले तुलसीदास ने जिस 'साखी सबदी दोहरा' पद्धति पर कटाक्ष किया है, उसकी थोड़ी विवेचना कर लेना आवश्यक है।

× × × × ×

कबीरदास के बीजक में इतने काव्य-रूपों का प्रयोग है—

- १ आदिमंगल (मंगलकाव्य)
- २ रमैनी (चौपाई-दोहे)
- ३ शब्द अर्थात् गेय पद
- ४ ग्यान चौतीसा अर्थात् वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर से आरम्भ करके पद लिखना
- ५ विप्रमतीसी
- ६ कहरा
- ७ वसन्त
- ८ चाँचर
- ९ बेलि
- १० विरहुली (साँप का विष उतारनेवाला गान,
- ११ हिंडोला
- १२ साखी (दोहे)

यद्यपि बीजक जिस रूप में आज मिलता है वह बहुत पुराना नहीं है तो भी यह मान लिया जा सकता है कि इसमें जितने प्रकार के काव्य-रूपों का प्रयोग है वे सभी कबीरदास के समय में लोकप्रिय थे। तुलसीदास की भाँति कबीर ने भी अपने आस-पास के लोकप्रचलित विनोदों और काव्य-रूपों को अपनाया होगा और उसमें अपने उपदेशों को भरकर जनता के उपयोग के लिये प्रचारित किया होगा। संत लोग प्रायः ही ऐसा करते आए हैं। कभी-कभी संतों ने लोक-प्रचलित ऐसे विनोद-रूपों का उल्लेख किया है जिनका साहित्य में बहुत बाद में प्रवेश हुआ है। कबीरदास के प्रयुक्त बहुत-से काव्य-रूप जो बीजक में सुरक्षित हैं आज भी जी रहे हैं जैसे विरहुली साँप का विष उतारने का गाना है। कबीरदास ने उसका प्रयोग विषयरूपी सर्प के विष उतारने के लिये किया है। कभी-कभी उनके द्वारा प्रयुक्त काव्य-रूपों की परंपरा काफी पुरानी भी सिद्ध होती है। आदिमंगल की चर्चा हम पहले ही कर आए हैं। यहाँ एक-एक करके 'साखी सबदी दोहरा' पर

विचार करना है। यह 'साखी' शब्द गोरखपन्थियों के साहित्य में भी मिलता है और कबीर-पन्थी साहित्य में तो मिलता ही है। संभवतः बौद्ध सिद्धों को भी इस शब्द का पता था; क्योंकि कण्हा के एक पद में 'साखि करब जालन्धरपाएँ' में जालन्धरपाद को साक्षी करने की बात है। यहाँ मतलब यह मालूम होता है कि जालन्धरपाद के वचनों को कण्हा साखीरूप में उल्लेख कर रहे हैं। धीरे-धीरे गुरु के वचनों को साखी कहा जाने लगा होगा। बौद्ध सिद्धों के ये उपदेश दोहा छन्दों में लिखे गए थे। इसलिये दोहा और साखी समानार्थक शब्द मान लिए गए होंगे। सरहपाद ने अपने एक दोहे में उसे 'उएस' या उपदेश कहा है। यही 'उएस' या उपदेश परवर्ती काल में साखी बन गया है। परवर्ती कबीर-साहित्य में तो दोहे का अर्थ ही साखी हो जाता है। अन्य निर्गुणिया संतों के संप्रदाय में भी साखी शब्द का प्रचलन है। प्रायः साखी की पुस्तकों का विभाजन अंगों में हुआ करता है अर्थात् साखी साक्षात् गुरुस्वरूप है। इसीलिये संत लोग अन्य दोहों से साखी को भिन्न वस्तु मानते हैं। रमैणियों के साथ साखी को उसकी प्रामाणिकता बढ़ाने के लिये जोड़ा जाता है। मेरा विश्वास है कि रमैनी शब्द कबीर सम्प्रदाय में बहुत बाद में चला है; परन्तु साखी शब्द निश्चय ही पुराना है।

'शब्द' गेय पद है। पुराने सिद्ध गेय पदों को किसी-न-किसी राग के नाम से ही लिखते थे; जैसे राग 'गवड़ा' (गौड़), राग घनाश्री इत्यादि। यह प्रथा सूरदास, तुलसीदास और दादू आदि संतों में भी पाई जाती है। गुरुग्रन्थसाहब में भी पदों के राग निर्दिष्ट हैं और कबीरदास के जो पद उसमें संकलित हैं उनके रागों का भी निर्देश कर दिया गया है। कबीर-ग्रन्थावली में भी पदों के गेय रागों का निर्देश है। यहाँ तक कि रमैनी का भी राग 'सुहौ' निर्दिष्ट है। केवल बीजक में इस नियम का अपवाद है। यहाँ केवल 'शब्द' कहकर सन्तोष कर लिया गया है। क्यों ऐसा हुआ, इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं मालूम। आदिग्रन्थ में बीजक के कुछ पद मिल जाते हैं।^१ परन्तु अधिकांश शब्द उसमें नहीं हैं। हमने 'कबीर' नामक अपनी पुस्तक में दिखाया है कि तुलसीदास को बीजक के एक सौ नवे पद का पता था जिसमें 'दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना' कहा गया है। 'शब्द' गोरखनाथियों में भी प्रचलित था। ऊपर बताया गया है कि सन्तों ने लोकप्रचलित काव्य-रूपों को अपनाया है और उसमें अपना उपदेश प्रचारित किया है। इस बात का एक मनोरंजक उदाहरण है ढोला-मारू के दोहों का कबीर के नाम से थोड़ा परिवर्तन के साथ पाया जाना। 'ढोला-मारू दोहा' के सम्पादकों ने कबीर के दोहों में से ऐसे बहुत खोज निकाले हैं जो बहुत कुछ मिलते हैं। मेरा अनुमान है कि ये दोहे बहुत अधिक लोकप्रिय होंगे और कबीर या कबीरमत के अन्य सन्तों ने उनमें थोड़ा परिवर्तन करके अपना सिद्धान्त प्रचार करना चाहा होगा। दो-एक उदाहरण लीजिए—

१	बीजक का शब्द	७३, आदिग्रन्थ के	सोरठ	२ से
"	"	"	११२	"
"	"	"	६७	"
"	"	चौचरी	२	"
				गौड़ी ४२ से
				प्रभाती २ से
				गौड़ी ५७ से तुलनीय

- (१) ढोला—राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल ।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी तिणका कवण हवाल ॥
कबीर—अंबर कुँजौं कुरलियाँ गरजि भरे सब ताल ।
जिनिपैं गोविन्द बीछुटे तिनके कौन हवाल ॥
- (२) ढोला—यहु तन जारौं मसि कहैं, धूआँ जाहि सरगि ।
मुझ प्रिय बदल होइ करि बरसि बुझावै अगि ॥
कबीर—यहु तन जालौं मसि करौं जसु धुआँ जाय सरगि ।
मति वै राम दया करै बरसि बुझावै अगि ॥
कबीर—चहु तन जालौं मसि करौं लिखौं राम का नाँउ ।
- (३) ढोला—सुहिणा, तोहि मराबिसूँ, हियइ दिराउँ छेक ।
जद सोऊँ तद दोइ जन, जद जागूँ तद हेक ॥
कबीर—कबीर सुपनै रैनहै पारस जियमें छेक ।
जो सोऊँ तो दोइ जण जे जागूँ तो एक ॥
- (४) ढोला—चिंता बंध्यउ सयल जग, चिंता किणहि न बद्ध ।
जे नर चिंता बस करइ, ते माणस नहिं सिद्ध ॥
कबीर—संसै खाया सकल जगु संसा किनहुँ न खद्ध ।
जे वेधे गुरु अपिपरौं तिनिसंसा चुणि-चुणि खद्ध ॥
- (५) ढोला—तालि चरति कुंझडी सः संधियउ गंमारि ।
कोइक आखर मनि वस्यउ, ऊड़ी पंख सँभारि ॥
कबीर—काटी कूटी मछली छौंरै धरी चहोड़ि ।
कोई एक अरि मन बस्या दहमें पड़ी बहोड़ि ॥

इस प्रकार के और भी अनेक दोहे मिलते हैं । इसी तरह हेमचन्द्र के व्याकरण में एक दोहा मिलता है जिसे सूरदास की कहानी में भक्तिप्रचार के उपयोग में लाया गया है । दोहा इस प्रकार है—

बाह बिछोडवि जाहि तुहुँ, हउँ तेबडूँ को दोषु ।

हिअअट्टिअ जइ नीसरहि, जाणउँ मुंज सरोसु ॥

स्पष्ट ही यह बात किसी ने मुंज से कही है । सूरदासवाली कहानी में इससे मिलता-जुलता दोहा सूरदास के मुख से भगवान को संबोधित करके कहलाया गया है—

बाँह छुड़ाए जात हौ निबल जानि के मोहि ।

हिरदय से जब जाहु तौ, सबल बढौंगो तोहि ॥

सभी देश में जनसाधारण में प्रचलित काव्यरूपों को सन्तों ने अपने मतप्रचार का साधन बनाया है । हमारे देश के सभी सम्प्रदाय के सन्तों ने ऐसा किया है । हमने पहले ही देखा है कि तेरहवीं शताब्दी के जिनदत्त सूरि नामक जैन सन्त ने लोक-प्रचलित चर्चरी और रासकजाति के गीतों का सहारा लिया था । चर्चरी उन दिनों जनता में बड़े चाव से गाई जाती थी । श्रीहर्षदेव की रत्नावली से और बाणभट्ट की पुस्तकों से चर्चरीगान की सूचना प्राप्त होती है । बारहवीं शताब्दी में सोमप्रभ ने वसन्तकाल

में चर्चरीगान सुना था—पसरन्त चारु चच्चरिव भालु । तेरहवीं शताब्दी के लक्षण नामक कवि ने 'जउणा णइ उतर तडित्थ' (अर्थात् यमुना नदी के उत्तरी तट पर बसे हुए) रायवड्डिय (रायभा शहर) का वर्णन किया है जो आगरे के आसपास कहीं रहा होगा । उन्होंने उस नगर के चौहट्ट को चर्चरध्वनि से उद्दाम देखा था । इस चर्चरी का कोई निर्दिष्ट छंद नहीं था । कबीरदास के बीजक में चाँचर नामक एक अध्याय है । इस चाँचर में पुरानी चर्चरी का ही अवशेष है । बीजक की एक चाँचर इस प्रकार है—

खेलति माया मोहिनी जिन्ह जेर कियो संसार ।

रच्यो रंग ते चूनरी कोइ सुन्दरि पहिरे आय ॥

इसमें केवल गान का रूप ही नहीं लिया गया है, आध्यात्मिक उपदेश में चर्चरी—जैसे लोकप्रिय गान के प्रिय विषय शृंगार रस का आभास देने का भी प्रयत्न है !

इसी प्रकार लोक-प्रचलित फाग आदि गानों का भी जैन मुनियों ने उपयोग किया है । जिनपद्य सूरि की पुस्तक 'थूलभट्ट फागु' प्रसिद्ध ही है । इस विद्वान कवि की रचना में अद्भुत नाद-सौन्दर्य है । बीजक का वसन्त इसी प्रकार लोक-प्रचलित काव्यरूप का अंगीकरण है । भाषा इसकी अवश्य बदल गई है, पर यह इस बात का सबूत तो है ही कि उन दिनों के प्रचलित काव्यरूपों का संतों ने अपने ढंग से अपने उद्देश्य के लिये उपयोग किया है । अस्तु, अब फिर प्रकृत विषय पर लौटा जाय ।

संवत् १७१५ की लिखी हुई एक प्रति से संगृहीत और गोरखबानी में उद्धृत पदों को 'सबदी' कहा गया है । जान पड़ता है, बीजक का 'शब्द' इसी 'सबदी' का संशोधन है । इस प्रकार यह 'सबदी' शब्द नाथपंथी योगियों का है और कबीरपन्थ में वह सीधे वहीं से आया है । निश्चय ही हमारे अलोच्यकाल में इस ढंग में पद बहुत प्रचलित थे । यह नहीं समझना चाहिये कि सिर्फ तुलसीदास ने ही 'साखी सबदी' की निंदा की है । स्वयं कबीरदास ने भी कहा है—

माला पहिरे टोपी पहिरे छाप तिलक अनुमाना ।

साखी सबदी गावत भूलै आतम खबर न जाना ॥

इसका मतलब यह हुआ कि कबीरदास के पहले 'साखी सबदी' का खूब प्रचार था ।

वर्णमाला के अक्षरों से आरम्भ करके काव्य लिखने की प्रथा भी पहले रही होगी । जायसी का 'अखरावट' इसी पद्धति पर लिखा गया था । बंगाल के कई मुसलमान कवियों के लिखे चौतीसा नामवाले ग्रंथ मिलते हैं । ऐसा लगता है कि मुस्लिम सूफी सन्तों ने ही इस प्रथा का प्रचार किया होगा । परन्तु पदों का 'राग' नाम देकर लिखने की प्रथा कब से शुरू हुई यह विवादास्पद प्रश्न है । सिद्धों ने तो निश्चित रूप से पदों के साथ राग का नाम दिया है । इसलिये यह तो नहीं कहा जा सकता कि राग नाम देकर लिखने की प्रथा मुस्लिम काल के बाद चली है । शकुन्तला नाटक में सूत्रधार ने निम्नलिखित श्लोक कहा है—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।

एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥ १-५

इसमें पाए जानेवाले 'सारंग' शब्द पर थोड़ा विवाद हुआ है। कुछ लोग बताना चाहते हैं कि यहाँ 'सारंग' शब्द पर श्लेष है। उसका एक अर्थ शाङ्ग या सारंग नामक राग है और दूसरा हरिण। यदि यह बात सत्य हो तो मानना पड़ेगा कि रागों का प्रचलन छठी शताब्दी से ही है; परन्तु इसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

यह हमने पहले ही देखा है कि कबीरदास का प्रयोग किया हुआ एक काव्यरूप 'चाँचर' है। टीकाओं में इस शब्द का अर्थ खेल बताया गया है। कालिदास और श्रीहर्ष आदि के नाटकों में 'चर्चरी गान' के अनेक उल्लेख हैं। अपभ्रंश में जिनदत्त सूरि की लिखी हुई 'चर्चरी' प्राप्त हुई है। उसके टीकाकार (जिनपाल उपाध्याय) ने भी बताया है कि यह भाषा निबद्ध गान नाच-नाचकर गाया जाता है। इस चर्चरी का प्रथम पद इस प्रकार है—

कवु अउवु जु विरयइ नवरस भर सहिउ।

लद्ध पसिद्धिहि सुकइहि सायरु जो महिउ।

सुकइ माहु ति पसंसहि जे तसु सुहगुरुहु।

साहु न मुणइ अयाणुय मइजिय सुरगुरुहु ॥४॥

बीजक का 'चाँचर' ठीक इसी छन्द में नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि चर्चरी या चाँचर की दीर्घ-परंपरा रही होगी। इन दो-चार उदाहरणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि बीजक में जिन काव्यरूपों का प्रयोग किया गया है उनकी परंपरा बहुत पुरानी है। और आलोच्य काल में विभिन्न संप्रदाय के गुरुओं ने धर्मप्रचार के लिये इन काव्य-रूपों को अपनाया था।

लीला के पद कब लिखे जाने लगे—यह भी कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता; परन्तु दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छन्दों में श्रीकृष्णलीला के गाने की प्रथा चल पड़ी थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। जयदेव का गीतगोविन्द इसी प्रकार के मात्रिक छन्दों के पद में लिखा गया था। पंडितों का अनुमान है कि लोकभाषा में इस प्रकार के गान लिखे और गाए जाते रहे होंगे। जयदेव ने उन्हीं के अनुकरण पर ये गान लिखे थे। जयदेव का जन्म बंगाल के वीरभूमि जिले में हुआ था और उड़ीसा की जगन्नाथपुरी उनकी साधना का क्षेत्र थी। हाल ही में उड़ीसा के कुछ विद्वानों ने यह दावा करना शुरू किया है कि जयदेव का जन्म भी उड़ीसा के किसी गाँव में हुआ था। जो हो, जयदेव का जन्मस्थान और साधनास्थान पूर्वी भारत में था, यह निर्विवाद है। जयदेव के बाद उसी प्रकार की पदावली बंगाल के चण्डीदास और मिथिला के विद्यापति नामक कवियों ने लिखी। इसलिये साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि यह पद लिखने की प्रथा पूर्वी प्रदेशों से चलकर पश्चिम की ओर आई है। बौद्ध सिद्धों के गान, जयदेव का गीत-गोविन्द, चण्डीदास के पद, विद्यापति के भजन-सभी इसी प्रकार का अनुमान करने को प्रोत्साहित करते हैं। परन्तु क्षेमेन्द्र (११वीं शताब्दी) के 'दशावतारवर्णन' में कवि ने एक जगह लिखा है कि जब गोविन्द यानी श्रीकृष्ण मथुरापुरी को चले गए तो विष्णो-भक्तः गोपियाँ गोदावरी (?) के किनारे पर गोविन्द का गुणगान करने लगीं—

गोविन्दस्य गतस्य कंसनगरीं
व्यासा वियोगाग्निना ।

स्निग्धश्यामलकूललीनहरिणो
गोदावरी - गह्वरे ।

रोमन्थस्थितगोगणैः परिचयाद्य-
रुण्यमाकर्णितम् ।

गुप्तं गोकुलपल्लवे गुणगणं
गोप्यः सरागा जगुः । (८-१७३)

गोपियों ने जो गान गाया उसे कवि ने मात्रिक छन्द में लिखा है । अनुमान किया जा सकता है कि क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार के गान अपने आसपास सुने थे । और इस गान में उन्होंने उन्हीं लौकिक गीतों का अनुकरण किया है । गीत इस प्रकार है—

ललितविलासकलासुखखेलन-
ललनालोभनशोभनयौवन-
मानितनवमदने ।

अलिकुलकोकिलकुवलयकज्जल-
कालकलिन्दसुताविगलज्जल-
कालियकुलदमने ।

केशकिशोरमहासुरमारण-
दारुणगोकुलदुरितविदारण-
गोवर्धनधरणे ।

कस्य न नयनयुगं रतिसंज्ञे
मज्जति मनसिजतरलतरंगे-
वररमणीरमणे ।

इस गान से यह अनुमान होता है कि जिस प्रकार के पद बंगाल और उड़ीसा में प्रचलित थे उसी प्रकार के पद सुदूर कश्मीर में भी प्रचलित थे । अर्थात् पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में ऐसे पद व्याप्त थे । सूरदास ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं । उनके पद इतने सुन्दर और कलापूर्ण हैं कि सहसा यह विश्वास नहीं होता कि यह रचना ब्रजभाषा की पहली रचना है । निश्चय ही इसके पहले बहुत बड़ी परंपरा रही होगी । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तो एक बार यह भी अनुमान किया था कि सूरसागर दीर्घकाल से चली आती हुई किसी पुरानी परंपरा का विकास है । सूरदास और उन्हीं के समान अन्य भक्त कवियों के पदों का बाद में चलकर इतना अधिक विकास हुआ कि उनके पहले के सभी पद या तो लुप्त हो गये या फिर इन्हीं कवियों में से किसी-न-किसी के नाम पर चल पड़े ।

गीतगोविन्द में बहुत थोड़े गानों का संग्रह है । कवि ने उसे प्रबन्धकाव्य के रूप में ही सजाया है । निःसन्देह गीतगोविन्द के गान गीतिकाव्यात्मक अर्थात् 'लिरिकल' हैं । ऐसे पदों से प्रबन्ध का काम नहीं लिया जा सकता । इसीलिये गीतगोविन्द वास्तविक

प्रबन्धकाव्य नहीं हो सका है। वह वस्तुतः गीति-काव्य-संग्रह ही है। सूरदास आदि ब्रजभाषा के कवियों ने भी बहुत-कुछ इसी पद्धति को अपनाया है। श्रीकृष्णलीला का गान करने के पहले जयदेव ने दशावतार का स्मरण कर लिया है। ऐसा जान पड़ता है कि ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में दशावतारवर्णन बहुत आवश्यक समझा जाने लगा था। मूल रासो में भी दशावतारवर्णनपरक कुछ कविताएँ अवश्य रही होंगी। वर्तमान रासो में भी दशावतार नाम का एक अध्याय जुड़ा हुआ है। मूल ग्रन्थ से यह लगभग स्वतंत्र ही है। इसमें अच्छे कवित्व का परिचय है। जान पड़ता है कि क्षेमेन्द्र के दशावतारचरितम् की भाँति यह भी देशी भाषा में लिखा हुआ कोई स्वतंत्र ग्रन्थ था। वर्तमान रासो में इसका दसम् नाम अब भी सुरक्षित है। दसम् अर्थात् दशावतारचरित। यद्यपि वर्तमान रासो में यह दूसरे समय के रूप में अंतर्भुक्त किया गया है तथापि इसका दसम् नाम उसमें दिया हुआ है। सम्पादकों को इस नाम की व्याख्या में कहना पड़ा है कि दसम् अर्थात् द्वितीय समय। जबतक यह स्वीकार न किया जाय कि दसम् नाम का दशावतारचरितविषयक कोई अलग ग्रन्थ था जो बाद में रासो में जोड़ दिया गया तबतक 'दसम्' अर्थात् 'द्वितीय' की ठीक-ठीक संगति नहीं लग सकती।

परन्तु मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि यह दसम् नामक पुस्तक चंद की रचना होगी ही नहीं। इसमें सुन्दर कवित्व है। यह किस अच्छे कवि की रचना जान पड़ती है। इसमें राधा का नाम आया देखकर बिदकने की कोई जरूरत नहीं है। यह विश्वास बिल्कुल गलत है कि जयदेव के पहले उत्तरभारत में राधा शब्द अपरिचित था। मैंने 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में दिखाया है कि दसवीं शताब्दी में आनन्दवर्धन को इस राधा का परिचय था। उन्होंने एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें श्रीकृष्ण उद्धव से राधा का कुशल पूछ रहे हैं। श्लोक इस प्रकार है—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदः

राधारहःसाक्षिणाम्

भद्रं भद्र ! कलिदराजतनया-

तीरे लतावेशमनाम् ? इत्यादि

इसी तरह ग्यारहवीं शताब्दी में क्षेमेन्द्र ने भी अपने दशावतारचरित में राधा की चर्चा की है। श्लोक इस प्रकार है—

गच्छन् गोकुलगूढकुञ्जगहनान्यालोकयन्केशवः ।

सोरकठं वनितानतो वनभुवा सख्येव रुद्धाञ्जलः ।

राधाया न न नेति नीविहरणे वैक्लव्यलक्षणाक्षराः ।

सस्मार स्मरसाध्वसाद्भुततनोरद्धोक्तिरिक्ता गिरः ॥

इसी प्रकार वेणीसंहार नाटक के इस श्लोक में भी राधा नाम है—

कालिन्ध्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसे ।

गच्छन्तीमनुगच्छतोऽत्र कलुषां क'सद्विषो राधिकाम् ।

तरपादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते—

रक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्पाणु वः ॥

हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में जो अपभ्रंश के दोहे संगृहीत हैं वे उनके समय के पहले के हैं। कुछ ऐसे भी होंगे जो उनके या उनके समसामयिक कवियों के लिखे होंगे। उनमें भी राधा का प्रधान गोपीरूप में ही उल्लेख है। इस दोहे में राधा के वक्षःस्थल की महिमा इस प्रकार बताई गई है कि इसने आँगन में तो हरि को नचा ही दिया, लोगों को विस्मय के गर्त में गिरा ही दिया (इससे बड़ी सफलता इसकी क्या हो सकती है) सो, अब इसका जो होना हो सो हो—

हरि णाच्चाइव पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोइ ।

एम्बहि राह पयोरहं जं भावइ तं होइ ॥

जो लोग गाथासप्तशती में आए हुए राधा शब्द को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं उन्हें आश्चर्य होकर इतना तो कम-से-कम मान ही लेना चाहिए कि नवीं-दसवीं शताब्दी में राधा का नाम उत्तरभारत में अत्यन्त परिचित हो चुका था। इसलिए वर्तमान पृथ्वीराज-रासो में संयोजित 'दसम्' अर्थात् 'दशावतारचरित' में राधा नाम आ जाने मात्र से यह नहीं सिद्ध होता कि यह रचना चन्द की नहीं है। परन्तु मैं यह भी नहीं कह रहा कि यह रचना चन्द की है ही। मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि यह दसम् किसी अच्छे कवि की रचना है और भक्तिकाल के पूर्ववर्ती दशावतारवर्णन-परंपरा का एक उत्तम निदर्शन है। विनयमंगल की ही भाँति इसे भी भक्तिपूर्वकाल की साहित्यिक रचना-प्रवृत्ति का निदर्शन मानना चाहिए। ये दोनों रचनाएँ 'रासो' से बाहर की हैं। यह भी संभव है कि चंद ने अलग से इन दो पुस्तकों की रचना की हो और बाद में वे रासो के साथ जोड़ दी गई हों। या फिर यह भी हो सकता है कि ये किसी अन्य अच्छे कवि या कवियों की रचनाएँ हों। रासो में ये जोड़ी गई हैं, यह स्पष्ट है। दशावतार का कोई प्रसंग नहीं था। यदि था भी तो बहुत थोड़ा, उसको इतने विस्तार से कहने की वहाँ कोई आवश्यकता नहीं थी। जान पड़ता है कि रासो में कुछ थोड़ा-सा प्रसंग देखकर किसी ने बाद में इस पुस्तक को उसमें जोड़ दिया है और विनयमंगल तो स्पष्टरूप से अलग पुस्तक है। उसके समाप्त हो जाने के बाद भी रासो में विनयमंगल का प्रसंग चलता रहता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उस स्थान पर विनयमंगल का थोड़ा-सा प्रसंग देखकर किसी ने वहाँ पर इस पूरी पुस्तक को जोड़ दिया है। वस्तुतः ये दोनों ही भक्तिकाल के काव्यरूपों के उत्तम नमूने हैं।

तुलसीदास ने 'साखी' के अतिरिक्त धर्म-निरूपण के एक और साधन का भी उल्लेख किया है। वह है दोहरा। दोहरा का अर्थ दोहा ही है। पर साखी से भिन्न ये दोहे क्या रहे होंगे। नाथपंथियों और कबीरपंथियों के 'धर्म-निरूपणपरक' दोहे 'साखी' कहे जाते हैं। बाकी जैनों में प्रचलित एक प्रकार के अपभ्रंश दोहे हैं जिनका स्वर बहुत-कुछ निर्गुणियों के दोहों से मिलता है, पर वे साखी न कहलाकर 'दोहे' ही कहलाते रहे हैं। ऐसे दोहों के दो-तीन पुराने ग्रंथ पाये गये हैं। उनकी चर्चा यहाँ आवश्यक है; क्योंकि आगे चलकर हिन्दी-साहित्य में सन्तों ने जो दोहे लिखे हैं वे इन्हीं दोहों के स्वर में हैं। स्वर भी उनका वही है। जोइन्दु का परमात्मप्रकाश तथा योगसार और मुनिराम सिंह के पाहुड़ दोहे ऐसे ही ग्रंथ हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि तुलसीदास ने जहाँ लोकप्रचलित और जनता को आकृष्ट करनेवाले सभी छन्दों और काव्यरूपों को राममय करने का प्रयत्न किया वहाँ उन्होंने आल्हा या वीर-छन्द को नहीं अपनाया । इस बात से यद्यपि निश्चित रूप से तो कुछ नहीं सिद्ध होता; परन्तु अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदास के काल में आल्हा का प्रचार नहीं था । या तो वह उन प्रदेशों में उस समय तक आया ही नहीं जिनमें तुलसीदास विचरण किया करते थे या फिर वह तब तक लिखा ही नहीं गया; क्योंकि इतनी प्रभावशालिनी और लोकाकर्षक काव्यपद्धति को जानते हुए हुए भी तुलसीदास न अपनाते,—यह बात समझ में आने लायक नहीं है । विशेष करके जब राम का चरित्र इस पद्धति के लिये बहुत ही उपयुक्त था । वर्तमान आल्हा बहुत बाद में संग्रहीत हुआ है और इसके आधार पर कुछ भी कह सकना संभव नहीं ।

इस प्रकार पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य के काव्यरूपों के अध्ययन से हम अनुमान कर सकते हैं कि हमारे आलोच्य काल में मध्यदेश में कौन-से काव्यरूप प्रचलित थे ।

अनुक्रमणिका

अ

- अंतरंग सन्धि—४
 अखरावट—१०७
 अगरचंद नाहटा—१३ १८, ५१
 अगाध मंगल—१०३
 अजयपाल—३३
 अद्दहमान (अब्दुल रहमान)—४२, ८४
 अनन्तपुत्र रुद्र—७२
 अनादिमंगल—१०३
 अनुराग बांसुरी—९६, ९७
 अपभ्रंश—१-७: १०, ११, १७, १८, २०-२४,
 ३४, ३६, ३८, ३९, ४२-५२, ५४,
 ५६, ५८, ६६, ६८, ७७, ९१,
 ९२, ९५-९९, १०३, १०८, ११०,
 १११
 —साहित्य—३, ४, २२
 —काव्य—४, ७, ४१, ४२, ५८, ९२,
 ९४
 —भाषा—४, ४२, ९३.
 —काल—२३, ४५, ४८, ९४
 अपदेव सूरि—७
 अवध्यकोप प्रसाद—२९
 अभयतिलक—९
 अभैविलास—६१, १०१
 अमरकीर्ति—५

अमरक—९०

—शतक—७५, ७६

अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी का

जर्नल—७५

अल्सफोर्ड—५

अवधी—१०, २३, २४, १०३

अवहट्ठ—८, ५०

अब्दुर्रहमान—७

अश्वघोष—१२

आ

आइने अकबरी—८

आख्यायिका—१०, ५३, ५७, ६६, ७०

आदिकाल—१, २, ९, १०, २४, १०३

आदिकालीन साहित्य—८, २३, ३९, ४१

आदिकाव्य—११, ५७

आदिकवि—९०, ९८

आदिग्रंथ—१०५

आदिनाथ उपाध्याय—५

आदिमंगल—१०३

आनन्द-संवत्—५०.

आनन्दवर्धन—११०

आमभट्ट—७

‘आराधना’ (पुस्तक)—४

आल्हा—१०, १६, २५, ३५, ३६, ३७, १११

आसगु—९

इ

इच्छिनी—६२, ६३, ७६, ७७, ७८, ८८, ८९
इन्द्रावती—८३
इन्दु—१०३
इन्नवतूता—३७

उ

उड़िया—६
उज्जयिनी भुअंग—७
उदयन—५४, ७०
उदयनारायण तिवारी (डा०) ५१
उन्सद—१६
उपदेशतरंगिणी—३५
उपदेशरसायणरास—१००
उपासकदशामुत्र—४०
उमापतिधर—२९

ए

एडोल्फ—४४

क

कड़वक—९४, ९६, ९७
कजरीवन—७७
कण्हुपा—१०५
कथा—१०, ५२, ५३, ५४, ५७, ५८, ६१,
६६
कथाकोश—५९
कथाकाव्य—५२, ५४, ६०, ६१, ६६, ९४,
९७
कथा-सरित्सागर—५६, ७५
कदर्पी—३४
कदली देश—७७
कनकामर मुनि—७
कन्ह—४०, ७८, १०३.
कबीर—६, ११, ४३, ९६, १०३-१०८
'कबीर' (पुस्तक)—१०५
कबीरग्रंथावली—१०५
कश्कण्डुचरित—५, ९६

कपूरदेवी—४९

कपूरमंजरी—९९

कल्हण—७२

कव्व—९७.

कविबांधव—३४

कविकल्पलता—८४

कस्तूरचन्द कासलीवाल—५

'काई'—२१

कादम्बरी—५२, ५७, ५८, ६६, ७५

कामध्वज—७९

कारंजा—५

कालामुख-सम्प्रदाय—३७

कालिदास—८८, ९२, १०८

काव्यमीमांसा—५५

काव्यालंकार—५३, ५४

काव्यादर्श—५३

काव्यानुशासन—४२, ५९

किरातार्जुनीय—३३

कीर्तिलता—८, १०, १२, १८, १९, २१, ५२,
५८, ५९, ६१, ६३, ७३, ९३

कीर्तिपताका—८, १०

कीर्तिकथा—५३

कीर्तिकौमुदी—७३

कीर्ति सिंह—१२, ७३

कुमारदेव—२९

कुमारदेवी—३६

कुमारपाल चरित—२, ७२

कुमारपालचरितबोध—३

कुमारपालप्रतिबोध—४

कुवलयमालाकथा—१८, २०

कृष्णराज—७

कृष्णयमारितंत्र—४०

केशवदास—९६, १०२

केसर सिंह—१७

कोपकालाग्निरुद्र—२९

कौतूहलकवि—५७, ७८

क्षेमेन्द्र—५६, १०८, १०९, ११०

ख

खड़ी बोली—२३
खुमानरासो—१०, १३
खुम्माण (द्वितीय)—१३.
खुसरों—१०

ग

गंग—१०२
गर्जसिंघजीवरूपक—६१, १०१
गद्य काव्य—५२, ६६, ६९
गाथा (गाहा) ९, ४२, ५१, ५३, ६२, ९०,
९१, ९२, ९३, ९४, ९९, १०३
गाथासप्तसती—१११
काथाकोश—५५, ९०
गाहाबंध—९१
गीतगोविन्द—१०८, १०९
गीतिकाव्य—९, ११०
गुजराती—९, १०, २४
गुणाद्य—५२, ५४, ५५, ५६
गुणाकरसूरि—९
गुणे (पाण्डुरंग)—४
गुण्डरीपा—७
गुप्तक—४०
गुर्जरकाव्य—१५
गुरुग्रंथसाहव—१०५
गोगादे रूपक—६१, १०१
गोरक्षपा—७

गोरक्षनाथ (गोरखनाथ)—३८, ७७, ९६,
१०३

गोविन्दचन्द्र—८, १६, २६, २७, २८, ३२, ३७
गौरीशंकर ओझा (म० म०)—५०.

ग्यानचौतीसा—१०४

ग्रियसैन (जार्ज)—१, ८

च

चंद (चन्दवरदाई)—१२, १५, १६, २१,
३०, ३५, ५०, ५१, ५२,
६१-६५, ८०, ८३-८८,
९७-९९, १०२, १११.

चंद्र (गाहड़वारवंशी राजा)—२६

चंद (बदायूँ का राठौरवंशी राजा)—३२

चंपू—१०, ५९, ६८, ७०

चउम्मुह—९४

चच्चरी—४, ९६, १००, १०६, १०७, १०८

चण्डीदास—१०८

चतुर्मुख—११

चतुर्दश विद्याधर—२८

चन्द्रधरशर्मा गुलेरी—२, ३, ४, २०, २२

चन्द्रमोहन घोष—५

चन्द्रलेखा—८१

चरितकाव्य—१०, ४९, ५२, ५९, ६०, ६१, ७२,
१०१, १०२

चलिबल—७३

चाँचर—१०४, १०८

चारण—१७, २३, ४०

चित्ररेखा—७९

चिमनलाल डाह्या भाई दलाल—४

चोरंग सन्धि—४

चौतीसा—१०७

चोपाई—९४, ९५, ९६, ९७, १००

छ

छड्डुगिआ—१००

छप्पय—४२, ४६, ४७, ५०, ५२, ९७, ९८, ९९,
१०१

ज

जगदीशचन्द्र जैन—५

जगनिक—१६, ३६

जगविलास—६१

जज्जल—७, १५

जयशेखर सूरि—९

जयचन्द्र—१६, २७, २८, २९, ३१, ३२, ७९, ८१,
८२, ८५, ८६, ८७

जयचन्द्रप्रकाश—१०, १६, ३०,

जयमयंकजसचंद्रिका—१०, १६,

जयचन्द्रसूरि—७३

जयदेव—१०८, ११०

जयानक—७२

जयानन्दसूरि—९,

जर्नल आफ दि यू०पी० हिस्टारिकल सोसायटी

—१८

जर्नल आफ डिपार्टमेण्ट आफ लैटर्स—६

जल्हण—७२

जसहर चरिउ—५

जहाँसोज—३१

जादूकुल—७७

जानकीमंगल—१०३

जायसी—११, ४४, ४७, ४८, ७०, ७६, ७७, ८०,
८४, ९६, १०२

जालन्धरपाद—१०५

जावालि ऋषि—५८

जिनविजयजी (मुनि)—४, ५, ८, ५०, ९७,

जिनप्रभ सूरि—९

जिनदत्त सूरि—७, ९६, १००, १०६, १०८,

जिन पद्म—७, ९, ९६, १०७

जिनवल्लभ सूरि—९

जिनपाल—९६

जिनपाल उपाध्याय—१०८

जिनेश्वर सूरि—९

जिनोदय सूरि—९

जूनी गुजराती—९

जैकोबी—९२

जैन—७८

जैन-साहित्य-संशोधक—५

जैन-साहित्य का इतिहास—५, ९१, ९४

जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्य—११, ५६

जोइन्दु—१११

ज्ञानकलश—९

ज्योतिरीश्वर—८, १८

ट

टाड—७

ट्रेण्टणा—७

ड

डबल्यू० नामन ब्राउन—७५

डाहल देश—३७

डिगल—९९

डिगल-कविता—९३

डिगल-साहित्य—६१

डोंग्रिग - ७

डोम्बिका—६०

ढ

ढोला-मारू रा दूहा—८, ९, ४५, ४८, ५९,
८४, ९४, ९७, १००,
१०३, १०५, १०६

ण

णयकुमारचरिउ—५, ६६, ९५, ९६

त

तथागत गुह्यक—४०

तरुणप्रभ सूरि—९, १८

तांत्रिकशास्त्र—४०

तिल्लोपा—७, १०३

तिसट्टीलखण-महापुराण - ४

तुलसीदास (गोस्वामी)—११, १६, २१, ५०,
५२, ५८, ६५, ९४, ९५,
१०१-१०५, १०७, १११,
११२

थ

थूलभट्ट फागु—९६

द

दण्डी—३, ५२, ५३, ५४, ५७, ९२, ६४

दव्वसहावपयास—९१

दलपतिविजय—१३

दशावतारचरित—१२, ११०

दशावतारवर्णन—१०८, ११०, १११

दशार्णभट्टकथा—१८

दसोधी—८६

दादू—१०५

दामोदर शर्मा—८, १८
 दामोदर भट्ट—२८, ३२
 दारिकपा—७
 'दीपक'—६६, ६९
 दुर्गा केदार भट्ट—३०
 'दूहा विद्या'—१२
 देवसेन—७
 देवसुन्दर सूरि—९
 देवरक्षित—३७
 देशभाषाकाव्य—१०
 देसल देवी—३३
 दोहा—४७, ५१, ५२, ६३, ९१, ६३, ६५-
 ९७, १००, १०१, १०३, १०५,
 १०६, १११
 दोहाबंध—५२, ९१, ९२,
 दोहाग्रंथ—९२
 द्रव्याश्रयकाव्य—७२
 द्वारकाप्रसाद मिश्र—९७

घ

घनपाल—५, ७, ९, ११,
 धर्म—९
 धर्मकलश—९
 धामपा—७
 धार्मिक साहित्य—२३
 धीरेन्द्र वर्मा—२२
 ध्रुवक—९४, ९७

न

नन्ददास—१२
 नभयासुन्दरिसन्धि—४
 नमिसाधु—५४
 नयनन्दि—५
 नयचन्द्र सूरि—२७, २८
 नरपति—१३
 नरपति नाल्ह—१३, १४, ३३
 नरोत्तम स्वामी—८
 नवसाहसाङ्कचरित—७२

नागरी-प्रचारिणी समा (काशी)—२, ८, ९,
 ४९, ५१
 नागरी-प्रचारिणी पत्रिका—२, १३, २२, ३८
 नागलदेवी—३४
 नागकुमार—६७
 नाटक—१२, ३३, ६८, १०८
 नाटिका—२७, २८, ६७, ९९
 नाट्यशास्त्र—९२
 नाथमत—३८
 नाथूराम 'प्रेमी'—५, ९४
 नाराच—९७, १०१,
 निजन्धरी—१०, ११, ५४, ७० ७१-७५
 निर्गुण—३७
 नूरमुहम्मद—९६
 नेमिनाथ—१२
 नेमिनाथचरित—४
 नेमिनाथ फागु—१२
 नेमिचन्द्र भंडारी—९
 नैषधचरित—१, ७९, ८०
 नौटंकी—९९

प

पंचतंत्र—५२
 पंचदंड—१४
 पउमचरित—५
 पञ्जून—३६
 पञ्चटिका—९४, ९५
 पद्धरी—९७, १००
 पद्धि डियाबंध—५२, ९४, ९५, ९६
 पद्म—९
 पद्मकीर्ति—५
 पद्मावत—११, ५८, ६५, ७३, ७५-७७,
 ८०, १०२
 पद्मगुप्त—७२
 पद्मावती—७६, ८०
 पद्मिनी—७७
 परशुराम बंद्य—५
 परमार—७, २७, ३३, ३६

परमात्मप्रकाश—४, ९२, १११
 परमर्षी (परमाल)—३६, ३६
 परमालरासो—१०
 पल्ह—९
 पाटण—४
 पाणिनि—४
 पार्वतीमंगल—१०३
 पाहुड दोहा—५, १११
 पिगल—५१, ९४
 पिगल-सूत्र—१०
 पिशेल—३, ४, ५
 पुण्डरीनी—८२
 पुरातन प्रबन्ध—३४, ४२, ४५, ५०, ९७,
 ९८, ९९
 पुराण—५२, ५८, ८०
 पुरानी हिन्दी—२, २१, २२, ४२
 पुष्पवंत—४, ५, ७, ११, ३६, ९५
 पुष्पभाट—७
 पृथ्वीचन्द—९
 पृथ्वीराजरासो—१०, १६, ४२, ४९, ५१,
 ५८-६१, ६७, ६८, ७२,
 ७३, ७९, ९६, ९८, १००,
 १०३, १११,
 पृथ्वीराज—१२, ३०, ३५, ३६, ४०, ४९,
 ५०, ६०-६३, ६५, ६८, ७०,
 ७६, ७८-८०, ८२-८८, १०२
 पृथ्वीराज (प्रथम)—३३
 पृथ्वीराज (तृतीय)—३३
 पृथ्वीराजविजय—४८, ४९, ५०, ७२, ७९,
 ८१
 पेन्जर—७५
 पैशाची प्राकृत—५४
 पैशाची भाषा—५५
 प्रकरण—६७
 'प्रकाश'—६१
 प्रक्षेप—५०, ५२, ६१
 प्रक्षिप्त—५२, ६४, ७७, ९२

प्रज्ञातिलक सूरि—९
 प्रताप सिंह—१३
 प्रतापसिंह-चरित्र—१७
 प्रबंधचिन्तामणि—३, २८, ३४, ९१, १०३
 प्रबंधकोश—२९
 प्रबंधकाव्य—५१, ९६, ९७, १०९, ११०
 प्रवेशक—९९
 प्रबोधचन्द्र बागची—६
 प्रशस्तिसंग्रह—५
 प्राकृतपिगलम्—३, ५, १५, १६, २३, २८,
 २९, ३१, ९२, ९९,
 प्राकृतपिगलसूत्र—४४-४७
 प्राकृत—३, ४, १०, ४२, ५२-५६, ५९, ९०,
 ९१, ९३, ९९, १०३

—साहित्य—५५

—कविता—५५

—कथा—५९

—भाषा—९३

प्रेम कथानक—११

प्रेरण—६०

प्रोषितपत्रिका—१४

फ

फारसी—८, ९३

फेरू—९

ब

बंगला—६, ८, ४६

बंगाल एसियाटिक सोसायटी—८, ४९, ७२

बनारसीदास (जैनकवि)—१०२

बनारसीभाषा—१८

बबुआ मिश्र—८

बबबर—७, १५

बरबै—९६, १०१, १०३

बाणभट्ट—५२, ५४, ६६, ६९, ७०, ७५,
 ९४, १०६

बाबूराम सक्सेना—८

बालचन्द्र सूरि—७३

बारहमासा—७४
 विब्लयोथिक इंडिका—५, १५,
 बिहारी सतसई—८
 बीजक—१०४, १०५, १०७, १०८
 बुद्ध—४०, ७०
 बुद्धस्वामी—५६
 बूलर (डा०)—४९
 बेलि—१०४
 बैनर्जीशास्त्री—४
 बोधिसत्त्व—४०
 बौद्ध—११, ३६, ९२
 बौद्धगान ओ दोहा—६
 बौद्धसिद्ध—६, ११, ३६, ९६, १०५, १०८
 बौद्धकवि—११, १२
 बौद्धधर्म—२५, ३६, ३९, ४०
 बौद्धसाधना—३८
 'ब्रजवुलि'—६
 ब्रजभाषा—१०, २३, २४, ४८, १०२, १०३,
 १०९, ११०

ब्राह्मणधर्म—३६, ४१,
 ब्राह्मण-साहित्य—५५
 ब्लूमफिल्ड—७५

भ

भक्ति-साहित्य—३९
 भक्तिकाल—४१, १११
 भक्तिमार्ग—४१
 भक्तिपूर्वकाल—१११
 भट्टकेदार—१६, ३०-३१
 भण्ड—२५
 भत्तउ—९
 भरत—५१
 भविसयत्तकहा—४, १२
 भागवतपुराण—१७
 भाणक—६०
 भाणिका—६०
 भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट—४, ७

भादेपा—७
 भारतीय विद्यामंदिर—८
 भामह—३, ५२, ५३, ५४, ५७, ९२, ९४
 भावनासार—४
 भाषाकाव्य—४८
 भाषाशास्त्र—४२
 भाषाविज्ञान—४६
 भीमविलास—६१, १०१
 भीम भोरंग—७८
 भूसुकपा—७
 भोगपरक तांत्रिकधर्म—४०
 भोज—३, ३३
 भ.जपुरी ६, १०, २८
 भोराभीमंग—६२, ६३

म

मंगलकाव्य—१०१, १०३
 मंगलसाहित्य—१०४
 मंजुघोषा—६४
 मगही—६
 मटेरियालियन सुरकेण्टनिस डेस अपभ्रंश—३
 मणिभद्र चैत्य—४०
 मणिभद्रयक्ष—४०
 मत्ता—१००
 मत्स्येन्द्रनाथ—७७
 मदनपाल—३२
 मथुराप्रसाद दीक्षित—५१
 मधुकरभट्ट—३०, ३१
 मधुमालती—१०२
 मन्दाक्रान्ता—९०
 मयणरेहासन्धि—४
 मराठीभाषा—२८
 महाकाव्य—१६
 महाराष्ट्रीय प्राकृत—२७
 महाकथा—५६
 महाभारत—५२, ५७, ९०
 महीपा—७

माइल्लघवल—११, १२
मार्डनवरनाकूलर लिटररेचर आफ नार्दन
हिन्दुस्तान—१

माणिक्यराज—५
माधोभाट—३०
मान (राजा)—७
मानसोल्लास—८
मारसिंह—७
मिश्र बन्धु—२
मिश्र बन्धु विनोद—२, १०
मुंज—१०६
मुक्तक—९, ९४
मुग्धावती—१०२
मूलराज (राजा)—२७
मृगावती—१०२
मेघदूत—९०
मेरुनन्दन—९
मैथिली—६, ८, १०
मोतीलाल मैनारिया—९, १३, १७
मोतीचंद्र (डा०)—१८
मोहनसिंह (कवि) —५१, ५२

य

यक्ष—४०
यक्षकुल—४०
यक्षपूजा—४०
यशःकीर्ति—५
याकोबी (हरमन)—४
युक्ति-व्यक्ति-प्रकरण—८, १८, २०, २३, २८
युवराजदेव—३७
योगसार—१११
योगिसम्प्रदायाविष्कृति—७७
यौनभावनापन्न साधना—४१

र

रङ्गधू—५
रङ्ग—१००
रणमल्लरासो—१०१

रतनरासो—६१, १०१
रतनविलास—६१, १०१
रतनसेन—८०
रत्नावली—४४, ७६, १०६
रमैनी—१०४, १०५
रम्भामंजरी—२७, २८
रससिद्धि—३७
रसेश्वरमत—३७
रहस्यात्मक साहित्य—४१
राग—गवड़ा (गौड़)—१०५
—घनाश्री—१०५
—सूही—१०५
राजशेखर—३, ९९
राजशेखरसूरि—७, ९, १२, २९, ५५
राजस्थानी साहित्य—८, १७, ५१, १०१
राजस्थानी भाषा और साहित्य—९, १३, १७
राजस्थान भारती—५१, ५२
राजविलास—६१, १०१
राजतरंगिणी—७२, ८१
राजपूतचित्र—८५
राजारूपक—६१, १०१
राज्यपाल—२६
राठोडांरी ख्यात—१६
राणारासो—६१, १०१
राधा-मुधानिधि—१२
रामचरितमानस—११, १२, ५२, ५८, ८०
रामकृष्णदेव (परमहंस)—११
रामपाल—३६, ७२
रामचरित (संध्याकर नंदी-कृत)—७२
रामचन्द्र शुक्ल—२, ३, ५, १०, ११, १३,
१४, १५, २४, ३०, १०१,
१०९
रामसिंह (मुनि)—७, ८, १०३, १११
रामायण—स्वयंभूकृत—७, १२
—तुलसीकृत—५०, ६५, ९५
—आदिकाव्य—५७, ६४, ९०
रामाक्रीड़ा—६०

रायद्रह बोल—२९
 रायमल रासो—६१
 रावरिणमल रूपक—६१, १०१
 रासपंचाध्यायी—१२
 रासलीला—९७
 रासोसार—६२, ६४
 रासोबंध—१००
 राहुल सांकृत्यायन—५, ६, ७, १२, १५,
 २३, ३२
 रुद्रट—३, ५४, ५६, ६५
 रुद्रदामा (महाक्षत्रप) ५२
 रूपक—६१, ६६, ६९, १००, १०१
 रोमांस—१०, ७०, ८६, ८७
 रोला—६७

ल

लक्षण—७, १०७
 लम्भ—५३
 ललित विग्रहराज—३३
 ललित विस्तर—४४
 लालचंद्र गांधी—५
 लीलावती—५७, ५८, ५९, ६२, ७६
 लुब्धपा—७
 लोकगीत—१०३
 लोकभाषा—९०, १०८
 लौकिक कथा—५७
 लौकिक संस्कृत—९०, ९१, १०३

व

वज्रयान—३९, ४०
 वज्रपाणियक्ष—४०
 वज्रपाणि बोधिसत्त्व—४०
 वज्रसेन सूरि—९
 वर्णरत्नाकर—८, १८, ८४
 वसंत-विलास—७३
 वसन्तपाल—३३
 वसुदेवहिण्डि—५४
 वस्त्रिण—९

वादिदेव सूरि—९
 वासवदत्ता—५२
 विक्रमादित्य (साहसाङ्क)—५४, ५५, ७०
 विक्रमादित्य (चालुक्य)—८१
 विक्रमाङ्कदेवचरित—७२, ८१
 विक्रमोर्वशीय—३, ९१, ९२
 विग्रहराज—३४
 विजयपाल (गुहिलवंशी)—२१
 विजयपाल रासो—१०, ११
 विजयसेन सूरि—९
 विजयसिंह—२२, ७७
 विजैविलास—६१, १०१
 विद्याधर—७, १५, २८, २९, ३२
 विद्यापति—८, १२, १८, ३९, ५२, ५८,
 ६१, ६३, ९३, १०८

—पदावली—१०, १८

विजयचन्द्र—७, १६
 विनयचन्द्र सूरि—९
 विनयप्रभ—९
 विनयमंगल—६५, १०४, १११
 विप्रमतीसी—१०४
 विरहाङ्क—१००
 विरहलो—१०४
 विरूपा—७
 विरहण—७२, ८१
 वीरगाथा—२३, १०१
 —काल—१०, १३, १५, १६, १७

वीररस—१५, २३, ८८
 वीरकाव्य—५१
 वीरचंद—७९
 वीसलदेव चतुर्थ (विग्रहराज)—३३, ३४, ३५
 वीसलदेवरासो—१०, १३, १४, ३३, १०१
 वृहत्कथा—५२, ५४, ५६, ५८
 वृहत्कथामंजरी—५६
 वृहत्कथाश्लोक-संग्रह—५६
 वेणीसंहार—११०

वेनिफी—७५
वैतालपञ्चविंशति—३, ५६
वैदिकभाषा—२१
वैदिकधर्म—३६
वैष्णवकवि—६
वैष्णवपदावली—६
वैष्णवधर्म—१२, ३९
व्यासदेव—९०
व्रजस्वामिचरित्र—४

श

शकुन्तलानाटक—१०७
शांकरमत—१८
शाकंभरी—३३, ४७
शाक्त साधक—३७
शान्तिविजय—१३
शान्तिपा—७
शाङ्गधर—२, १५
—गद्धति—३
शालिभद्र—७
शालिभद्र सूरि—९
शाहरयण—९
शिलालेख-गिरनार—५२
—दमोह—२२, ५०
—प्रद्युम्नेश्वर का मंदिर—३९
—मलकापुरम्—३७
—हेर्लाकेरटी—७
शिवशिंह सेंगर—१, ७, ६७, १०२
शिवशिंह सरोज—१५, ३१
शुक-सप्तति—५८
शृंगाररस—१४, २३, १०७
शैवमत—३७, ३८
श्रीकृष्णलाल (डा०) ५८
श्रीचंद—५
श्रीधर—५
श्रीहर्ष—१, ७६, ९४, १०६, १०८
श्रीहर्षदेव—२५

श्रुतिकीर्ति—५
श्यामल दास—९७

स

संगीतकला—३४
संग्राम सिंह—९
संघाकर नंदी—७२
संयुक्तनिकाय—४०
मंयोगिता—६२, ६३, ६४, ६५, ७६, ७७,
७९, ८१, ८२, ८७, ८९, १०३
संस्कृत-गाथा—४४
संस्कृत-साहित्य—५२, ९०
संस्कृत-काव्य—७०
सहिता—३९
सईफुद्दीन—३१
सगतसिंहारामो—६१, १०१
सगुण—३७
सगुण भक्ति—६५
सदृक—६७
सणकुमारचरित्र—४
सत्त सई—५५, ९०
नदभावजंभु—६७
सन्देशरासक—४, १०, १२, ४२, ४४-४८,
६०, ८२, ८४, ८५, ८८, ९९
१००, १०३
सनादलक्ष—३३
सवरपा—७
सम्पूर्णानन्द-अभिनन्दन-ग्रंथ—१८
सरस्वती-कंठाभरण—३
सरहपा—७, ९६, ९७, १०३, १०५
सलल—७८
सवैया—१०१, १०२, १०३
सहजयानी—३६
साखी—१०४, १०५, १०७, १११
साधु हंस—९
सामन्त सिंह—३३
सारमूर्ति—९

सावयधम्म दोहा—५
 सिवायच दयाल दास—१६
 सिंहासनद्वित्रिशतिका—३
 सिद्ध—२३
 सिद्ध-सामन्त-काल—२३
 सीयक—७
 सुनीतिकुमार चटर्जी (डा०)—८, १८
 सुबाहु—५२, ५४
 सुबंधु—६६
 सुमन्त मुनि—६४
 सुमति गणि—९
 सुरयोत्सव—७३
 मुलसाख्यान—४
 सूफी—११, १०७
 सूफी कवि—३७, ५९, १०२
 सूरदास—२१, ९७, १०५, १०६, १०९
 सूर-सागर—१२, १०९, ११०
 सूर-साहित्य—९७
 सूर्यकरण पारीक—८
 सोमप्रभ—७, १०६
 सोममूर्ति—९
 सोमदेव—३३, ५६
 सोमपाल-विवाह—७२
 सोमेश्वर—४९, ७३
 सोहर—१०१, १०३
 स्त्रीदेश—७७
 स्मार्त—३९
 स्मार्तधर्म—४०
 स्मार्तमत—३७, ३८, ३९
 स्मृति—३९
 स्मृति-साहित्य—९०
 स्वयंभू—५, ७, ११, १२, ३६, १००

स्वयंभूछन्दस्—१००

हम्मीर—१६, ३३
 हम्मीरकाव्य—१५
 हम्मीरगयरा—१५
 हम्मीररासो—२, १०, ११, १५, १६
 हरप्रसाद शास्त्री—(म० म०)—५, ८
 हरकेलिनाटक—३३
 हरिवंशपुराण—५, ९४
 हरिब्रह्म—७
 हरिभद्र—७
 हरिषेण—५९
 हरिवल्लभजी भायाणी—९९
 हर्ष राज—२१
 हर्षचरित—५७, ६८, ७०
 हर्ष (राजतरंगिणीका)—८१
 हल्लीस—६०
 हाल—३, ५५, ७०, ९०
 हिमालाज—४०
 हिडोला—१०४
 हितहरिवंश—१२
 हिन्दी-साहित्य का इतिहास—१, २, ३
 हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—१०
 हिन्दी-साहित्य की भूमिका—११०
 हिन्दी-भाषा का इतिहास—२२
 हिन्दी-काव्यधारा—७
 हिन्दी-शब्द सागर—२
 हीरालालजी जैन—५, २२, ३८
 हेमचन्द्र—१, २, ३, ७, ९, ३६, ४२-४४,
 ४६-४८, ५९, ६०, ६५, ७२,
 ९१, ९२, ९४

